ज़िन्दगीनामा का भाषागत और शिल्पगत अध्ययन

(एम० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध- निर्देशक

डॉ० पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधकर्त्ता

निरंजन देव शर्मा

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नयी दिल्ली–110067

1993

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

दिनांक : 21/7/93

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री निरंजन देव शर्मा द्वारा प्रस्तुत "जिन्दगीनामा का भाषागत और शिल्पगत अध्ययन" शीर्षक लघु-शोध प्रबंध में प्रयुक्त सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के उपयोग नहीं किया गया है । यह सर्वथा मौलिक है ।

(केदारनाथ सिंह)
अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
नई दिल्ली-110067.

(पुरूषोत्तम अग्रवाल)
निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
नई दिल्ली -110067.

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN

विषय-सूची

भूमिका

प्रथम अध्याय

आख्यान परख ढाँचे की सीमाएं और समस्याएं 1 - 37

1. भारतीय उपन्यास के स्वरूप की खोज

2. यथार्थवाद या यथार्थत्व

3. उपन्यास : प्रकार्य और रूप

द्वितीय अध्याय

ज़िन्दगीनामा की सर्जनात्मक चुनौती 38 - 53

1. प्रयोग के लिए प्रयोग या कुछ और

2. प्रचलित ढाँचे का परित्याग - एक मूल्यांकन

तृतीय अध्याय

ज़िन्दगीनामा - बोध और कथ्य का शिल्प 54 - 86

1. लोक परम्परा का विस्तार

2. भाषा की रंगत

3. आस्वाद के धरातल

4. नये शिल्प की छटपटाहट

मूल्यांकन एवं निष्कर्ष

परिशिष्ट : कृष्णा सोबती से साक्षात्कार

xxxxxx

भूमिका

'ज़िन्दगीनामा' से साक्षात्कार हुआ और परिचय धीरे-धीरे गहरा हुआ, गहरा होता चला गया । 'ज़िन्दगीनामा' कृष्णा सोबती की अन्य कृतियों की तरह विवादास्पद किन्तु नवीन संभावनाओं की रचना है । इस वृहद् उपन्यास का पहला ही भाग - 'जिन्दानामा' - अभी तक सामने आ पाया है, इसलिए इसी को शोध का विषय बनाया गया । विषय तय हुआ - 'ज़िन्दगीनामा का भाषागत और शिल्पगत अध्ययन' । 'ज़िन्दगीनामा' ने लोक भाषा की अपार संभावनाओं को अपने में समाहित किया है । एक भाषा बोलचाल की होती है और एक भाषा साहित्य की । हिन्दी साहित्य के लिए परिनिष्ठित हिन्दी ही आम तौर पर स्वीकृत रही है । बोलचाल की भाषा के निकट जाने का साहस अब तक कुछ ही उपन्यासकार जुटा पाए हैं, और जो जुटा भी पाए हैं उनमें से कितने चमत्कार से हटकर यथार्थ के साथ भाषा को जोड़ पाए हैं, यह अपने आप में शोध का विषय है । इसी के साथ परम्परागत औपन्यासिक ढाँचे को तोड़कर कितने उपन्यास या उपन्यासकार नये प्रतिमान स्थापित कर पाए हैं, यह भी विचारणीय है । 'ज़िन्दगीनामा' को इन्हीं कुछ कसौटियों पर रखकर परखने का प्रयत्न प्रस्तुत लघु शोध प्रबंध में किया गया है ।

प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबंध में तीन अध्यायों की योजना की गई है और अन्त में सम्पूर्ण शोध का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है । प्रथम अध्याय में हिन्दी उपन्यास के प्रारंभिक स्वरूप से आरंभ करके उसके निरन्तर बदलते स्वरूप का निरीक्षण करते हुए 'ज़िन्दगीनामा' तक की परम्परा को सरसरी नज़र देखने

का प्रयास है तथा बाकी दो अध्याय 'ज़िन्दगीनामा' की सर्जनात्मक क्षमता तथा शिल्प से संबंधित हैं ।

प्रथम अध्याय 'आख्यानपरक ढाँचे की सीमाएँ और समस्याएँ' हिन्दी उपन्यास के आयातित ढाँचे से लेकर भारतीय ढाँचे तक की खोज के बिन्दुओं को इंगित करता हुआ 'यथार्थवाद' तथा 'रूपवाद' के विवाद पर भी प्रकाश डालता है ।

दूसरे अध्याय में 'ज़िन्दगीनामा की सर्जनात्मक चुनौती' को विभिन्न कसौटियों पर परखा गया है । इस अध्याय में नये प्रयोग की प्रासंगिकता तथा प्रचलित ढाँचे के परित्याग की महत्ता का मूल्यांकन किया गया है । यह उपन्यास मुख्यत: लेखिका से बातचीत और संबंधित सामग्री से पर आधारित है ।

तीसरे अध्याय का नामकरण 'ज़िन्दगीनामा : बोध और कथन का शिल्प' किया गया है । इस अध्याय में कथा की लोकपरम्परा से आरंभ करके उपन्यास की भाषा के विभिन्न पहलूओं, समस्याओं, विशेषताओं से दो-चार होने का प्रयत्न किया गया है । शिल्प की नवीनता को लेकर भी इस अध्याय में विचार किया गया है ।

अन्त में मूल्यांकन एवं निष्कर्ष है तथा परिशिष्ट में लेखिका यानि कृष्णा सोबती से साक्षात्कार ।

'ज़िन्दगीनामा' के गहन अध्ययन के पश्चात अपनी शोध-योजना के अनुसा मैंने विभिन्न पुस्तकों एवं पत्रिकाओं की छान-बीन की । इसके लिए मुझे मुख्यत: शोध निर्देशक, मित्रों के पत्रिका एवं पुस्तक संग्रहों से लेकर साहित्य अकादमी, नटरंग संस्थान तथा दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी से सामग्री प्राप्त हुई । शोध के दूसरे अध्याय को प्रामाणिक बनाने तथा तीसरे अध्याय में दिए गए तर्कों को पुष्ट करने के लिए 'ज़िन्दगीनामा' की लेखिका कृष्णा सोबती से अनेक मुलाकातों में बातचीत तथा एक लिखित साक्षात्कार अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए ।

शोध कार्य आरंभ करते हुए शोध-दृष्टि निर्धारित करने में जो कठिनाई पेश आ रही थी उसका निवारण शोध निर्देशक डा. पुरूषोत्तम अग्रवाल से कई दौर की बातचीत में संभव हुआ । उन्होंने प्रचलित शोध योजना से अलग हटकर शोध का नया रास्ता दिखाया तथा उस पर बेधड़क बढ़ते रहने के लिए निरंतर प्रेरित किया । अनेक पत्रिकाएं एवं पुस्तकें उपलब्ध कराने के अतिरिक्त शोध से संबंधित हर प्रकार का सहयोग उनसे मुझे प्राप्त हुआ । जो शोध दृष्टि एवं लग्न उन्होंने मुझ में विकसित की उसके महत्व को मैं औपचारिक धन्यवाद की रस्म पूरी करके ख़त्म नहीं कर सकता ।

'ज़िन्दगीनामा' में शोध की संभावना से सर्वप्रथम परिचय मुझे अपने मित्र सूर्यनाथ से बातचीत में मिला । सहायक पत्रिकाओं तथा पुस्तकों की खोज करते हुए मुझे सूर्यनाथ, महेश आलोक, उर्मिल तथा बुज़ुर्ग मित्र ज्योतिष जोशी के संग्रहों से लाभ प्राप्त हुआ । ज्योतिष जोशी के ही माध्यम से मुझे नटरंग-प्रतिष्ठान के

दुलर्भ पत्रिका संग्रह से लाभान्वित होने का अवसर श्री नेमिचन्द्र जैन ने प्रदान किया ।

शोध कार्य अधूरा रह जाता यदि सुश्री सोबती जी ने सहयोग न किया होता । अनेक मुलाकातों में उनसे 'ज़िन्दगीनामा' पर खुलकर हुई बातचीत तथा मौखिक एवं लिखित साक्षात्कार अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए । शोध निर्देशक डा. अग्रवाल के पश्चात उन्होंने भी जिन्दगीनामा की भाषा, शिल्प और ढाँचे संबंधी मेरी अनेक शंकाओं को निर्मूल किया ।

मेरे पिताजी, परिवारजनों तथा अभिन्न मित्र प्रतिमा की प्रेरणा ने शोध कार्य पर्ण करने में मेरे मनोबल को बनाए रखा । अमरनाथ, कश्मीर सिंह तथा पवन जैसे पुराने मित्र भी लगातार उत्साह दिलाते रहे ।

शोध को अंतिम रूप में सामने लाने के लिए मुझे श्रीमान बेदी ने कमलज्ञान योजना तथा अन्य स्रोतों से आर्थिक सहायता दिलाई, छात्रों की सहायता करने उनका योगदान अप्रतिम है ।

शोध कार्य करते हुए अनेक विद्वानों के सम्पर्क में आया तथा कई नए संबंध बने । किसी भी का भी औपचारिक धन्यवाद करके मैं उन संबंधों की गरिमा को ख़त्म करना चाहता । अन्त में केवल इतना ही कि सभी के सहयोग, प्रेरणा तथा अपनी थोड़ी सी मेहनत से जो कार्य सम्पन्न हुआ है वह प्रस्तुत लघु-शोध-प्रबंध के रूप में आपके समक्ष है ।

-निरंजन देव शर्मा

- x - x -

प्रथम अध्याय

आख्यानपरक ढाँचे के स्वरूप की खोज

1. भारतीय उपन्यास के स्वरूप की खोज
2. यथार्थवाद या यथार्थ तत्व
3. उपन्यास : प्रकार्य और रूप

(क) जीवन से साक्षात्कार

(ख) यथार्थवादी ढाँचे का रूपवाद

औपन्यासिक ढाँचे की सीमाएँ और समस्याएँ

भारत में उपन्यास का अभ्युदय उपनिवेशवाद के उत्कर्षकाल में हुआ । आरम्भ का यह दौर अनुवादों, अनुकरणों तथा प्रयोगों का दौर था । प्रयोगों के इस दौर ने उपन्यास और उसके ढाँचे मे परिवर्तन, संवर्द्धन की सम्भावनाओं को निरन्तर बलवती बनाए रखा । भारतीय उपन्यासों का यह आरम्भिक काल पश्चिम के निम्नस्तरीय उपन्यासों से प्रभावित था । हमारे देश में उपन्यासों के स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध करने के पीछे यह एक प्रमुख कारण रहा है । इन अंग्रेजी उपन्यासों का प्रभाव कुछ इस तरह से भारतीय उपन्यास के ढाँचे में पैठ गया कि हमारी मौलिकता कहीं पीछे छूट गई और पराये ढाँचे में ही उपन्यास गढ़ने में भारतीय लेखक गर्व महसूस करने लगे । "अंग्रेजी साहित्य के हमारे ऊपर प्रभाव का एक पक्ष यह रहा कि हम अपनी महान और विविध और सम्पन्न कथा परम्परा से कट गए, उसके बारे में बदज़न हो गए, उस पर गर्व करने के बजाए हम उससे शर्म महसूस करने लगे, उसकी औपन्यासिक सम्भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया, या उस ध्यान को पिछड़ेपन की एक दलील समझ लिया । और इसी का नतीज़ा यह हुआ कि वह तथाकथित पश्चिमी उपन्यास जो अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव में उन्नीसवीं सदी के आखिरी दौर में यहाँ आया, वह अभी तक जमा बैठा है ।"[1]

---

1. पूर्वग्रह, कृष्णबलदेव वैद्य, अंक 81-82, 1987, पृ. 41

भारतीय उपन्यास को निजी स्वरूप ग्रहण करने में लगभग आधी सदी का समय लगा । यह निजत्व पहले कथ्य स्तर पर आया उसके पश्चात् सम्पूर्ण कथात्मक ढाँचे में परिवर्तन को लेकर प्रयोग होने आरम्भ हुए । सर्व-प्रथम बंग्ला में तथा उसके बाद बंगला के प्रभाव से गुजराती तथा हिन्दी उपन्यासों में परम्परागत औपन्यासिक ढाँचे को जोड़ने-तोड़ने तथा नयी सम्भावनाएँ खोजने के प्रयास हुए ।

ज्यों-ज्यों कोई विधा साहित्य में प्रवेश करने के साथ विक-सित होने लगती है, उसके साथ विवाद भी जुड़ते चले जाते हैं । उपन्यास भी कोई अपवाद नहीं, अन्य विधाओं की तरह उपन्यास भी विभिन्न वादों के कटघरे में कैद रहा । उपन्यास यथार्थ-प्रस्तुति का सशक्त माध्यम बना तो यथार्थ के प्रस्तुतिकरण को लेकर रूढ़ यथार्थवादी ढाँचे का वर्चस्व बना रहा । इसी दौर में लीक से हट कर कुछ ऐसे प्रयोग हुए जिन्होंने उपन्यास की सीमाओं तथा सम्भावनाओं को नए आयाम दिए । यथार्थ-वादी ढाँचे में ही पलते-बढ़ते उपन्यास को नया परिवेश मिला जो अधिक भारतीय था, अधिक अपना था - नया था, अलग था । उपन्यास की सीमाएँ तो बढ़ी, साथ ही विवाद भी जन्मे । उपन्यास के परम्परागत यथार्थवादी ढाँचे तथा उसे तोड़ कर नया ढाँचा देने वालों के बीच तीव्र विवाद चलता रहा है । यथार्थवादियों ने इन्हें कलावादी तथा रूपवादी

कह इनके उपन्यासों को यथार्थ से दूर बताया । इन सभी वादों-विवादों के बीच उपन्यास निर्बाध गति से सर्जनात्मक प्रयोगों की सृष्टि में जुटा रहा । यही उपन्यास की सर्जनात्मक शक्ति तथा समाज और यथार्थ से जुड़े रहने का प्रमाण है ।

आज का उपन्यास अपनी विषयगत तथा शिल्पगत विशेषताओं के चलते अपने प्रारम्भिक रूप से नितान्त भिन्न एक नया स्वरूप ग्रहण कर चुका है । उपन्यास के विकास से लेकर उसके बदले हुए स्वरूप तक को पुन-मूल्यांकन की संभावनाएं यहाँ विद्यमान हैं ।

१।१ भारतीय उपन्यास के स्वरूप की खोज -

भारत में उपन्यास का अभ्युदय अंग्रेज़ी उपन्यासों से जुड़ा हुआ है । यूरोप से जिस तरह के उपन्यासों का आगमन भारत में हुआ उसके लिए वातावरण तैयार हो चुका था । 1857 ई॰ की क्रान्ति का विफल होना तथा भारत का पूरी तरह से अंग्रेजी औपनिवेशिक शिकंजे की जकड़ में आ जाना, सामन्ती व्यवस्था का ध्वस्त होना तथा नई पूँजीवादी व्यवस्था में मध्यवर्ग का उदय होना, तथा इन सब परिवर्तनों के बीच अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार - उपन्यास के प्रवेश के लिए उचित वातावरण का निर्माण हो चुका था । जिस तरह के उपन्यासों से भारतीय लेखकों का पाला पड़ा वे निम्न श्रेणी की अंग्रेज़ी उपन्यास थे । बहुत स्वाभाविक है कि इन निम्न-स्तरीय उपन्यासों से ही प्रारम्भिक भारतीय उपन्यास का स्वरूप निर्धारित

हुआ । भारतीय भाषाओं में उपन्यास पहले-पहल अंग्रेजी के निम्नस्तरीय अनुवाद के रूप में सामने आया । अनुवाद और अनुवाद का भी अनुवाद यानी अंग्रेजी से उर्दू और उर्दू से हिन्दी में अनुवादों के उदाहरण देखने में आते हैं । स्वाभाविक है कि यह अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुए होंगे । यही वह बुनियाद थी जिस पर भारतीय उपन्यास के प्रारम्भिक स्वरूप की इमारत खड़ी करने की कोशिश की गई । उत्कृष्ट यूरोपीय उपन्यासों से तब भारतीय लेखकों का कोई वास्ता नहीं था । "जिन्हें विदेशों में यथार्थवादी उपन्यास के मूल स्रोत कहा जा सकता है, ऐसे बेहतरीन उपन्यासों से प्रेरणा पाकर लिखने वाले अपने यहाँ कायद ही हैं । अंग्रेज़ी उपन्यासों में हीन स्तर के, रेनाल्ड्स के हीन स्तर के उपन्यासों का आस्वाद करने वाले माई के लाल ही अपने यहाँ अधिक हैं । बहुत हुआ तो कुछ लोगों ने रेनाल्ड से परे उलाँग लगाई और पहुँचे मिसेज़ हेनरीवुड और लार्ड लिटन जैसे सामान्य लोगों तक ही, इसी में उन्होंने इति मानी प्रयत्नों की ।"[1]

उपन्यास का यह स्वरूप पराया था, अंग्रेज़ों के निम्नस्तरीय उपन्यासों से उधार लिया हुआ । इनमें एक ओर आदर्शवादी उपन्यास थे तो दूसरी ओर रहस्य और रोमांच से भरपूर उपन्यास । "परीक्षा गुरू", (लाला श्रीनिवास दास) "भाग्यवती", (श्रद्धाराम फुल्लौरी) तथा निस्सहाय

---

1. विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, आलोचना, जनवरी-मार्च 1988, पृ. 18

हिन्दू (राधाकृष्ण दास) जैसे उपन्यासों का मूल स्वर समाज सुधारक की तरह उपदेशात्मक ढंग से आदर्श स्थापित करने का था । रहस्य और रोमांच पर आधारित उपन्यासों का सूत्रपात पं॰ किशोरीलाल गोस्वामी तथा देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासों से होता है । 'चंन्दकान्ता' तथा 'चन्द्राकान्ता-सन्तति' का महत्त्व उपन्यास का पाठक वर्ग तैयार करने में स्वयंसिद्ध है । यह वह समय था जब एक ओर निम्नस्तरीय आयातित ढाँचे में हिन्दी उपन्यास लिखा जा रहा था तो दूसरी ओर उसमें निजत्व के लिए उटपटाहट भी थी । भारतीय जनमानस में विकसित हो रहे गद्यवर्ग का स्वरूप ही ऐसा था । "उसमें एक ओर परम्परा बनाम आधुनिकता का द्वन्द्व था तो दूसरी ओर आधुनिकता के नाम पर भ्रामक आधुनिकता की ओर झुकाव भी था । सम्भवत: यही कारण है कि आरम्भिक उपन्यासों में कहीं भारतीय और पश्चिमी मूल्यों का द्वन्द्व मिलता है तो कहीं ततही आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी मूल्यों की नकल मिलती है ।"[1]

जब भारतीय उपन्यास इस द्वन्द्व से गुज़र रहा था, निजी स्वरूप ग्रहण करने के लिए उटपटा रहा था तो सर्वप्रथम बंगला के बंकिमचन्द्र चटर्जी ने भारतीय यथार्थ को उसके निजीपन के साथ अपने उपन्यासों में उभारा । यह

---

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अ॰प्र॰, प्र॰सं॰ 1989, पृ॰ 279

उपन्यास देश की ज़मीन, देश की माटी के साथ जुड़े हुए थे । इनका शैल्पिक ढाँचा भी अंग्रेज़ी ढंग के उपन्यासों से भिन्न निजी स्वरूप लिए हुए था । दिशाहीन जहाज़ की तरह बढ़ रहे भारतीय उपन्यास के लिए बंकिम के उपन्यास प्रकाश स्तम्भ साबित हुए । इन उपन्यासों के अंग्रेज़ी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में हुए अनुवादों ने भारतीय उपन्यासकारों को उपन्यास के निजी स्वरूप से परिचित कराया । यह उपन्यास परवर्ती उपन्यासकारों के लिए स्वरूप सम्बंधी प्रयोगों का मार्ग प्रशस्त करने में सफल हुए । "भारतीय उपन्यास के मूलाधार उन्नीसवीं सदी के रोमांस ही हैं, न कि तथाकथित अंग्रेज़ी ढंग के उपन्यास । उन्नीसवीं सदी के भारतीय मानस का सही प्रतिनिधित्व 'कपाल-कुंडला' करती है, 'परीक्षा गुरू' नहीं । परीक्षा गुरू का महत्व अधिक से अधिक ऐतिहासिक है और वह भी सिर्फ हिन्दी के लिए । जबकि कपाल-कुण्डला अपने ज़माने की अत्यधिक लोकप्रिय कृति होने के साथ-साथ स्थायी कीर्ति की हकदार है । तथाकथित अंग्रेज़ी ढंग के नावेल का तिरस्कार करके ही बंकिमचन्द्र के रोमांस-धर्मी उपन्यासों ने भारतीय राष्ट्र और भारतीय उपन्यास की पहचान बनाने में पहल की ।"[1]

हमारे औपनिवेशिक समाज का आत्मबोध अपनी अस्मिता को पहचानने में असमर्थ रहा, इसीलिए आरम्भिक उपन्यासकारों की मानसिकता अनुवाद की थी या फिर उसी अनुवादी ढाँचे जैसे व्यक्तिगत प्रयासों की ।

---

1. अंग्रेज़ी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास, नामवर सिंह, साखी प्रवेशांक, अक्तूबर-दिसम्बर'82, पृ. 7

इस मानसिकता को पहचान कर उसका त्याग सर्वप्रथम बंकिम ने किया । भारतीय यथार्थ को पहचान कर अभिव्यक्ति देने की इस परम्परा में दो नाम और जुड़ते हैं - फ़कीर मोहन सेनापति तथा मिर्ज़ा हादी अलि रूसवा । फ़की मोहन का छः बीघा ज़मीन 'उड़िया में छः माण आठ गुंठ' भारतीय यथार्थ को, भारतीय किसान की तद्युगीन वास्तविकता को पूरे मर्म के साथ उभारने वाला उपन्यास है । प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकार के लिए किसान जीवन का यथार्थवादी चित्रण इसके बाद ही सम्भव हुआ होगा । "फ़कीर मोहन सेनापति का उपन्यास छः माण आठ गुंठ विकास की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की अन्तिम परिणति है और सर्वोत्तम उपलब्धि भी । यह उपन्यास एक प्रकार से प्रेमचन्द के उपन्यासों का पूर्वाभास है ।"[1]

उर्दू के मिर्ज़ा हादी रूसवा का उमराव जान अदा भारतीय नारी की त्रासदी को यथार्थ के धरातल पर प्रस्तुत करने वाली पहली रचना है । औपन्यासिक शिल्प की दृष्टि से भी यह उपन्यास अंग्रेजी ढंग से उपन्यास को नकारता है । उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय उपन्यास के स्वरूप का निर्माण करने वाले यही कुछ उपन्यासकार हैं जिनके उपन्यासों की यथार्थ

---

1. अंग्रेजी ढंग का नावल और भारतीय उपन्यास - नामवर सिंह, साखी, प्रवेशांक, दिसम्बर 92, पृष्ठ-10

चेतना तथा स्वरूपगत बुनावट परम्परा से हटकर निजीपन लिए हुए है । "उन्नीसवीं सदी के महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार वे ही हैं, जिनके उपन्यासों में भारतीय कथा परम्परा और उपन्यास के यूरोपीय ढाँचे में सर्जनात्मक तनाव है, या फिर भारतीय कथा-कौशल का कुशल प्रयोग । बंकिमचन्द्र और हरिनारायण आप्टे के उपन्यासों के रचना विधान में संस्कृत की कथा शैली और वर्णन पद्धती का उपयोग है । उर्दू में मिर्जा हादी रुसवा के उपन्यास उमराव जान अदा (1899) के पहले लिखे गए अधिकांश उपन्यासों में दास्तान और किस्सागोई के शिल्प का थोड़े हेर-फेर के साथ प्रयोग है । लोककथा के तत्वों का कलात्मक उपयोग फ़कीर मोहन सेनापति, प्रेमचन्द, विभूति भूषण बनर्जी, फणीश्वरनाथ रेणु और पन्नालाल पटेल के उपन्यासों में है ।"[1]

हिन्दी उपन्यास को व्यस्क बनाने वाले सर्जक हैं - प्रेमचन्द । प्रेमचन्द उस काल के सर्जक हैं जब एक ओर उपन्यास भारतीय यथार्थ को अभिव्यक्ति दे रहा था तो दूसरी ओर उपन्यासकार का साक्षात्कार उत्कृष्ट पश्चिमी उपन्यासों के स्वरूप से भी हो चुका था । प्रेमचन्द पर भी इसका प्रभाव रहा है । समय की माँग के अनुसार उन्होने पश्चिमी औपन्यासिक ढाँचे में भारतीय यथार्थ को ढाला । ढाँचे के स्तर पर भारतीय लगने वाले

---

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ. 283

निजी प्रयोग न करने पर आरोपों के घेरे में भी आए । "हम अक्सर गोदान के बारे में कहते हैं कि वह एक उत्कृष्ट उपन्यास है, लेकिन - बरसों से हम लेकिन के आगे अपने धुंधले असन्तोष के कारण ढूंढते आए हैं । यहाँ तक कि गोदान के अंग्रेज़ी संस्करण तैयार करते समय हम अनेक ऐसे प्रसंग, पात्र, घटनाएं छोड़ देना उचित समझते हैं, जो उपन्यास की मूल कथा को कमज़ोर बनाते हैं, उसके नैसर्गिक प्रवाह को अवरुद्ध करते हैं । किन्तु इस तरह की काटछाँट से उपन्यास की मूल कमज़ोरी अनावश्यक घटनाओं या पात्रों में न होकर स्वयं गोदान की समूची औपन्यासिक संरचना के केन्द्र में विराजमान है, यह कमजोरी उस कार्य में निहित है, जो प्रेमचन्द ने होरी जैसे जीवन्त, अपनी सुख पीड़ा में सतत प्रवाहमान जैसे पात्र पर आरोपित की है । एक तरफ प्रेमचन्द की गहन अन्तर्दृष्टि है जो गोदान के पात्रों ने उन्हें दी है,
दूसरी तरफ एक "ऐसी बनी बनायी विधा" को अपनाने की मोहजनक सुविधा है, जिसका इन पात्रों के संस्कारों, व्यक्तित्व, जातीय अनुभवों- उनकी जीवनधारा से कोई सम्बन्ध नहीं ।"[1] गोदान में कहीं भी भारतीय गाँव की मैला आँचल सी विविधता या संगीतात्मकता नहीं है । जिन्दगीनामा से गूँजते लोकगीत नहीं हैं, जबकि गीत-संगीत से गाँव का नज़दीक का रिश्ता

---

1. तीसरा साक्ष्य, निर्मल वर्मा, सं. अशोक वाजपेयी, संभावना प्रकाशन 1979, पृ. 232

है । इतनी सजीव एवं उत्कृष्ट कथावस्तु को यदि उपयुक्त भारतीय ढाँचा मिलता तो निश्चित रूप से गोदान एक महान उपन्यास होता । गोदान की अन्तर्वस्तु ठेठ रूप से भारतीय है, किन्तु जिस ढाँचे में उसे फिट किया गया वह पश्चिमी है । आत्मा भारतीय किन्तु शरीर पश्चिम का । इस ढाँचे से छेड़छाड़ करने या उसे बदल डालने का जोखिम प्रेमचन्द ने नहीं उठाया । आरोप अपनी जगह पर ठीक है किन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि युगीन परिस्थितियों को पहचानकर उपन्यास रचने वाले प्रेमचन्द जैसे कथाकार ने युगीन यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए जिस ढाँचे का प्रयोग किया वह उस काल की माँग थी । पाश्चात्य ढाँचे से प्रभावित होने का यह तात्पर्य नहीं कि अपनी सम्पूर्ण चेतना एवं संवेदना के स्तर प्रेमचन्द के उपन्यास कहीं से भी अभारतीय हैं । युगीन परिस्थितियाँ भी उपन्यास के स्वबन्ध को प्रभावित करती हैं । हिन्दी उपन्यास लेखन के इस दौर में उपन्यास को अपनी अन्तर्वस्तु सम्बन्धी सार्थकता भी सिद्ध करनी थी । "यह विचारणीय है कि हमारे कथा - पितामह प्रेमचन्द ने उपन्यास और कहानी का पश्चिमी ढाँचा ही लिया था । जहाँ तक शैली, शिल्प का सवाल है, प्रेमचन्द ने अपने पारम्परिक आख्यानों को छुआ तक नहीं । उन्हें अपना समय रचने के लिए समकालीन विधाएँ ही उपयुक्त लगीं । असली बात अपने कथ्य की खोज थी ।"[1] मुख्य

---

1. प्रेमचन्द और भारतीय कथा साहित्य में भारतीयता की समस्या, नामवर सिंह, पूर्वग्रह, अंक 46-47, पृ. 12

समस्या औपन्यासिक ढाँचे सम्बन्धी प्रयोगों की न होकर उपन्यास की भारतीयता को संवारने तथा उसे समाज-सापेक्ष बनाने की थी । प्रेमचन्द ने बेशक कोई चौंकाने वाले प्रयोग नहीं किए, भाषा का कोई वैयक्तिक मुहावरा विकसित नहीं किया फिर भी उनका महत्व अपने समय के सामाजिक यथार्थ को पहचान कर उसे लेखकीय संवेदना में ढालने का महान कार्य करने में निहित है । "प्रेमचन्द ने पश्चिमी उपन्यास की स्थगत संरचना ली है और बीच खेत ली है । जो भारतीयता हठपूर्वक पश्चिम का तिरस्कार करने में ही अपनी अस्मिता को सुरक्षित समझती है, वह भारतीयता प्रेमचन्द की नहीं हो सकती । प्रेमचन्द की भारतीयता पाखंडे की रसोई नहीं है जो पश्चिम के स्पर्श से भ्रष्ट हो जाए ।"[1]

इसमें कोई दो राय नहीं कि प्रेमचन्द ने पश्चिमी औपन्यासिक ढाँचे में भारतीयता को ढाला । एक ऐसा यथार्थवादी ढांचा जिसकी सीमाएं निश्चित थीं । उपन्यास की कथावस्तु एक निश्चित क्रम में आगे बढ़ती थी तथा अपेक्षित अंत को प्राप्त होती थी । पश्चिम ने इस ढाँचे में उत्कृष्ट उपन्यास दिए तो प्रेमचन्द ने भी भारतीय अस्मिता को पहचान कर इस ढाँचे में ढालने का महत्वपूर्ण कार्य किया । हिन्दी उपन्यास को इस बिन्दु

---

1. उपन्यास और लम्बी कविता - एक चुनौती, रविन्द्र वर्मा, साखी, अंक-2, पृ. 39

पर ले आने की जिम्मेवारी को प्रेमचन्द ने बखूबी निभाया ।

"उपन्यास" नामकरण बनाम स्वरूप :

भारत में पश्चिमी नावेल आने से पहले कथा तथा आख्यान के विभिन्न स्वरूप थे । नावेल के लिए भारत में अलग-अलग भाषाओं में अलग नाम प्रचलन में आए । मराठी में उसे प्राचीन कथा परम्परा से जोड़ कर कादम्बरी नाम दिया गया । गुजराती में भी नावेल को नवल कथा कहा गया । उपन्यास नाम बंगला से आया माना जाता है । "मराठी में उपन्यास के लिए कादंबरी नाम स्वीकृत हुआ, तो गुजराती में उसे नवल कथा कहा गया । नवल कथा नाम उपन्यास की नवीनता की ओर संकेत है और कथा की भारतीय परम्परा की ओर भी । हिन्दी में लोकप्रिय 'उपन्यास' नाम बंगला से आया । बंगला में भूदेव मुखर्जी की पुस्तक ऐतिहासिक उपन्यास (1862) में सबसे पहले इसका प्रयोग हुआ । बाद में बंकिम ने अपनी रचनाओं को उपन्यास कहा तो उनके उपन्यासों की लोकप्रियता के साथ यह नाम भी लोकप्रिय हुआ ।"[1]

यदि उपन्यास के लिए प्राचीन भारतीय आख्यान परम्परा से ही जुड़ा हुआ कोई नाम स्वीकृत या प्रचलित होता तो क्या हम अंग्रेज़ी

---

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी प्रकाशन, प्र.सं. 1989, पृ. 281-82

नावेल के प्रभाव से मुक्त होकर अपनी नयी परम्परा को ही विकसित करने में सफल हो पाते ? क्या तब उपन्यास का स्वरूप आरम्भ से ही भारतीय हो जाता ? इन सवालों की गहराई में जा कर तथ्यों को सामने लाना आवश्यक है । "कभी-कभी यह ख्याल भी आता है कि यदि भारतीय भाषाओं ने मराठी की तरह नावेल के लिए कादम्बरी संज्ञा स्वीकार कर ली होती तो शायद अपनी जातीय स्मृति अधिक सुरक्षित रहती और हमारी परम्परा का प्रत्यभिज्ञान हमारी कथात्मक सर्जनात्मकता में कुछ और रंग लाता ।"[1]

यदि नामकरण भारतीयता का स्मरण कराने वाला होता तो भी उन परिस्थितियों को, उस परिवेश को कैसे नज़रअंदाज़ किया जा सकता है जिसमें भारतीय उपन्यास का जन्म हुआ । जिस औपनिवेशिक परिवेश में निम्नस्तरीय अंग्रेज़ी उपन्यास से भारत का वास्ता पड़ा उसमें अपनी जातीय स्मृति तथा परम्परा कहाँ तक सुरक्षित रह पाती ? यदि यह भी मान लिया जाए कि भारतीय उपन्यासकारों का साक्षात्कार आरम्भ में ही निम्नस्तरीय अंग्रेज़ी उपन्यासों से न होकर रूस और फ्रांस के महान उपन्यासकारों से हुआ होता तो भी रूपबन्ध पर पाश्चात्य प्रभाव तो पड़ता ही । और फिर अपने यहाँ पश्चिम के प्रभाव को कुछ ज्यादा ही ग्रहणीय माना जाता रहा है

---

1. अंग्रेज़ी ढंग का नावेल और भारतीय उपन्यास, नामवर सिंह, साखी प्रवेशांक, दिसम्बर 92, पृष्ठ 11

मराठी में उपन्यास को कादम्बरी संज्ञा से ही अभिहित किया गया फिर भी वहाँ परम्परा से हटकर प्रयोग नहीं हो पाए । मराठी उपन्यासकार हरिनारायण आप्टे के बारे में विश्वनाथ काशीनाथ राणवाड़े का वक्तव्य द्रष्टव्य है - "इनके उपन्यास यद्यपि इंग्लैंड के सोसायटी नावेल्स की अपेक्षा सरस हैं तथापि डिकेन्स और थैकरे के समकक्ष इनका कोई उपन्यास नहीं रखा जा सकता । ह्यगो, जोला और टालस्टाय से तो आप कोसों दूर हैं ।"[1] कादम्बरी कहे जाने के बावजूद मराठी उपन्यास के स्वरूप में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं आया जो भारतीय परम्परा से जुड़ा हुआ होता । फिर हिन्दी में कादम्बरी का ऐसा ही कोई नाम देने से पाश्चात्य प्रभाव से बचे रह जाना सम्भव नहीं हो पाता ।

हिन्दी में परम्परागत ढाँचे को तोड़ने तथा उदात्त भारतीयता का अभिज्ञान कराने का पहला सार्थक प्रयास आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' लिख कर किया । पहली बार हिन्दी में निजी फाम देखने में आता है । पश्चिम में बने यथार्थवादी रूप को कोई बड़ी चुनौती इससे पहले हिन्दी उपन्यासकारों ने नहीं दी थी ।"उन्होनें उपन्यास को

---

1. उपन्यास, वि.का. राजवाड़े, आलोचना, अंक-84, पृ. 23

भारतीय गल्प और किस्सागोई से जोड़ा और उनके यहाँ उपन्यास का रूढ़ यथार्थवादी ढाँचा टूट जाता है । इस बात पर शायद बहुत ही कम ध्यान दिया गया है कि रूप और वस्तु दोनों ही स्तरों पर द्विवेदी जी ने उपन्यासों में जो किया है वह उन्हें प्रेमचन्द या यशपाल जैसे उपन्यासकारों से बिल्कुल अलग कोटि में रखता है ।"[1]

बाणभट्ट की आत्मकथा को भारतीय उपन्यास में ऐसा पहला सर्जनात्मक परिवर्तन माना जा सकता है, जिसका कथ्य और ढाँचा पूरी तरह से भारतीय है । आत्मा और शरीर दोनों से भारतीय । यही वह बिन्दु है जहाँ हिन्दी उपन्यास प्रचलित रूपबन्ध को तोड़ता है तथा निजी स्वरूप ग्रहण करता है । यह मात्र शैल्पिक प्रयोग नहीं है बल्कि इसमें एक भिन्न वस्तु परिकल्पना के लिए उपयुक्त रूपबन्ध की तलाश निहित है ।

औपन्यासिक ढाँचे के स्तर पर इस तरह की प्रयोगशीलता उपन्यास की गति तथा उत्कृष्टता बनाए रखने में सफल हुई है । इस तरह के सार्थक प्रयोग ही भारतीय उपन्यास के स्वरूप की पहचान बनेंगे ।

---

1. कुछ पूर्वग्रह, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं. 1984 पृष्ठ 135

यथार्थवाद या यथार्थ तत्व

पश्चिम की ही तरह भारत में भी यथार्थवादी उपन्यास का नारा काफी बुलन्द रहा । आदर्शवाद तथा रोमांस की प्रतिक्रिया में यथार्थवादी ढांचे का विस्तार यूरोप की ही भान्ति इस देश में भी हुआ । यूरोप में सामाजिक-आर्थिक क्रान्तियों के परिणामस्वरूप वहाँ का सामाजिक-आर्थिक ढांचा बदला, साथ ही व्यक्ति चेतना भी बदली । औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप निर्मित जटिल समाज ने यथार्थवाद को जन्म दिया । पाश्चात्य विचारधाराओं का सीधा प्रभाव भारतीय उपन्यासकारों पर पड़ता रहा है । हिन्दी उपन्यासकार विशेष रूप से पश्चिम के प्रभाव में रहे हैं तथा उस प्रभाव का प्रक्षेपण अलग-अलग ढंग से उनके उपन्यासों में हुआ है ।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने तक भारत की सम्पूर्ण जनता में असंतोष फैल चुका था । पूँजीवादी वर्ग के अतिरिक्त सारा भारत आर्थिक संकट और राजनीतिक निराशा में डूबा हुआ था, जिसमें कृषक वर्ग प्रधान था । इसी राजनीतिक उथल-पुथल तथा असंतोष के चलते औद्योगिक विकास भी धीरे-धीरे गति पकड़ने लगा था । आधुनिक जीवन में जटिलताएँ घर करने लगी थीं । ऐसे समाज तथा व्यक्ति के जीवन सत्य को उद्‌घाटित करने के लिए उपन्यास ने यथार्थवाद का सहारा लिया ।

यदि 20वीं शताब्दी में प्रेमचन्द से आरम्भ किया जाए तो देखने में आएगा कि उन्होंने जीवन की वास्तविक समस्याओं को अपने उपन्यासों में उठाया तो ज़रूर किन्तु समाधान अधिकांशत: आदर्श की भूमि पर ही खोजा । प्रेमाश्रम से आरम्भ कर 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', 'निर्मला', गबन तथा कर्मभूमि जैसे उत्कृष्ट उपन्यास उन्होंने अवश्य दिए, यथार्थ का एक पक्ष सामने रखते हुए आदर्शवाद तथा सुधारवाद की ओर झुके रहे । इन उपन्यासों का स्वरूपगत रूप से यथार्थवादी नहीं था । विचारदृष्टि में परिवर्तन होने पर गोदान जैसी महान यथार्थवादी कृति का सृजन भी प्रेमचन्द ने ही किया । "गोदान का रचना-संतुलन ऐसा बेजोड़ है कि उसमें अनवरत संघर्ष, करुणा, सहानुभूति और ट्रेजिक अंत के बावजूद कहीं किसी एक के प्रति कड़वाहट नहीं आती, गहरा असंतोष उमड़ता-घुमड़ता है तंत्र के प्रति ।"[1] यही प्रेमचन्द के यथार्थ चित्रण का उत्कृष्ट रूप है ।

प्रेमचन्द युग के उपन्यासकारों में जयशंकर प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री और वृन्दावनलाल वर्मा हैं, जिन्होंने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे । इन उपन्यासकारों के यहाँ उपन्यास के परम्परागत यथार्थ का, सामाजिक जीवन का चित्रण तो मिलता है किन्तु उसमें कहीं भी

---

1. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, द्वि.सं. 1989, पृ. 167

प्रेमचन्द की सी सजीवता नहीं है ।

प्रेमचन्द के बाद भी नागरिक मध्य वर्ग की कथा कहने वाले भगवतीचरण वर्मा प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास तो करते हैं किन्तु कोई नयी दृष्टि दे पाने में वे भी सफल नहीं हुए हैं । 'चित्रलेखा' के लिए वे विशेष रूप से जाने गए । ऐतिहासिकता के परिवेश में वे किस्सागोई की ओर तो झुकते हैं किन्तु यथार्थवादी ढाँचे का मोह छोड़ कर कुछ नया कर पाने से कतराते हैं ।

हिन्दी उपन्यास को नई दिशा तथा गति देने का कार्य जैनेन्द्र तथा अज्ञेय ने किया । इन्हीं के समकालीन यशपाल का योगदान परम्परागत ढाँचे में ही झूठा सच जैसे वृहद् उपन्यास देने में है । "प्रेमचन्द के गोदान में चरित्र सोचते हैं, प्रतिक्रिया करते हैं, आत्मालोचन करते हैं, पर झूठा सच के नहीं । पूरा उपन्यास इस दृष्टि से एक विशाल, विस्तृत वर्णन है ।"[1] भिन्नता की दृष्टि से त्यागपत्र उपन्यास साहित्य की बेजोड़ और सराहनीय उपलब्धि है । अज्ञेय का शेखर एक जीवनी समाज के यथार्थ से उस व्यक्ति के यथार्थ का आकलन करता है जो समाज का ही हिस्सा है ।

---

1. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक-भारती प्रकाशन, द्वि॰सं॰ 1989, पृ॰ 252

इन उपन्यासकारों के बाद तो मध्य वर्गीय, महानगरीय और कस्बाई यथार्थ को अभिव्यक्त करने वाले उपन्यासकारों की एक लम्बी परम्परा मिलती है । जहाँ एक ओर उपन्यास लिखने वालों की संख्या बढ़ी वहीं दूसरी ओर उपन्यास के रूढ़ यथार्थवादी ढाँचे में एकरूपता आने लगी । बीच-बीच में कुछ नए प्रयोग आशा की किरण अवश्य दिखाते रहे वरना भारतीय उपन्यासकारों पर यथार्थवाद का भूत कुछ उस कदर सवार था कि वे अपने देश के व्यापक यथार्थ को अभिव्यक्ति देने में असफल रहे । "पोथी में पढ़े वादों के आधार पर उपन्यास लिख गए हैं, पर वे टिक नहीं सके हैं । बड़े-बड़े विदेशी उपन्यासकारों के अनुकरण पर उपन्यास लिखे गए हैं पर ये उसी श्रेणी का प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके हैं । क्यों ? क्योंकि उन्होंने अपने देश की यथार्थ परिस्थितियों को नहीं समझा और इसीलिए वे उस खाई की भी ठीक-ठीक जानकारी नहीं पा सके जिसे पाटने का प्रयत्न ही उपन्यास को सच्चे अर्थों में यथार्थवादी बनाता है और जो नित्य बदलती हुई परिस्थितियों से और बढ़ते हुए ज्ञान से पिछड़ी हुई आचार परम्परा और पुरानी मान्यताओं के व्यवधान के कारण निरन्तर नए आकार-प्रकार में प्रकट होती रहती है ।"[1]

यथार्थवादी परम्परा के अधिकांश उपन्यास औसत दर्जे के ही मालूम पड़ते हैं । जिन्दगी के छोटे-छोटे टुकड़ों के यथार्थ को बारी-बारी

---

1. हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक (विचार और वितर्क) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन प्रकाशन, तृतीय संस्करण 1969. पृ. 12।

पाठकों के सामने परोसते रहने से उनकी उत्कृष्टता संदिग्ध होने लगी थी । जैसे-जैसे यथार्थ के बोझ से उपन्यास विधा की सीमाएँ सिमटने लगीं उपन्यास विधा के पनपने तथा विराट होने की सम्भावनाएँ भी क्षीण होने लगीं । अधिकाधिक सामाजिकता, ईर्द-गिर्द की जिन्दगी का चित्रण, रोज़मर्रा की जिन्दगी के ब्योरों की बारीकियाँ, विश्वसनीयता का निर्वाह करने तथा सत्य का आभास कराते रहने के लिए जाने-पहचाने जीवन के प्रसंग लेना यथार्थवादी उपन्यास की अनिवार्यताएँ हो गई थीं । स्थिति यह हो गई कि उपन्यास व्यक्तिगत अनुभवों तथा कहीं-कहीं सीमित सामाजिक अनुभवों तक सिमट कर रह गया । यथार्थ के अन्तिम बिन्दु तक पहुँचने की छटपटाहट ने अव्यक्त यथार्थ से पाठक का साक्षात्कार तो कराया, पर इस अन्धी दौड़ में वह पाठक को बाँधे रखने की ताकत से पिछड़ता चला गया । पाठक ने समाज में व्याप्त कड़वाहट को, विभक्त, कुंठित यथार्थ की सूक्ष्मता को अनुभव तो किया किन्तु सृजन का स्तर उसे कहीं नहीं सुनाई दिया । अपनी सांस्कृतिक विरासत से उसने स्वयं को छूटता हुआ महसूस किया । भोगे हुए यथार्थ के चित्रण की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न लगने लगे । "सवाल यह भी तो है कि आपका हर कुछ देखा-भोगा हुआ हमारे लिए कितना प्रासंगिक है ? उसकी नैतिक जरूरत क्या है ? ऐतिहासिक रूप में वह कितना प्रामाणिक है ? ..... "[1]

---

1. हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक (विचार और वितर्क) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन प्रकाशन, इ. सं. 1969, पृ. 125

यही कुछ ऐसी बातें थीं जिनके चलते उपन्यास का यथार्थवादी ढाँचा संदेहास्पद हो जाता है । उपन्यासकारों ने भी कहीं-कहीं इस सत्य को पहचान कर पिटे-पिटाए ढाँचे से अलग हटकर नवीन शैली में यथार्थ को पिरोने के प्रयास किए । सत्य तो यही है कि हमारे उपन्यासकार वाद के मोहपाश में बंध कर न तो पश्चिम की तरह कोई महान उपन्यास दे पाए और न ही अपनी कोई परम्परा विकसित कर पाए । "आज भी प्रेमचन्द हमें जहाँ छोड़ गए थे वहाँ से हम आगे नहीं बढ़ पाए । मुझे निराशा हुई है, परन्तु मुझे यह विश्वास भी हुआ है कि हमारा महान उपन्यासकार अब अवश्य पैदा होगा ।"[1] यह विश्वास द्विवेदी जी को वाद से हटकर हो रहे कुछ प्रयोगों को देख कर ही बंधा होगा । ऐसे में सवाल यह उठता है कि हम अपने उपन्यासों को क्यों वाद में बाँध कर यथार्थवादी ही कहें, जबकि वे अपवाद छोड़कर कहीं भी यथार्थवादी परम्परा में नहीं रखे जा सकते । यह भी तथ्य है कि उपन्यास का मूलाधार ही यथार्थ है तथा जीवन की यथार्थताएं ही उपन्यास को आगे बढ़ाती हैं । ऐसे में वाद का मोह त्याग कर यथार्थ तत्व की खोज करना अधिक प्रासंगिक होगा ।

---

1. हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक [विचार और वितर्क] आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन प्रकाशन, तृतीय संस्करण 1969, पृ. 125

TH-4631
Diss
O,152,3,N...
152-N...(1)

यथार्थवाद बनाम यथार्थ तत्व : एक अन्वेषण

यथार्थवाद ने हिन्दी उपन्यास में व्यापक स्वीकृति पाई । अपने अनेक रूपों में यथार्थवादी परम्परा विकसित होती रही । उपन्यासकार यथार्थ से नहीं बच सकता । उसके अनुभव तथा उसका यथार्थलोक अनुभूतियों के स्तर पर तो भाषा के दायरे से बाहर होता है, किन्तु अभिव्यक्ति के लिए वह भाषा को माध्यम बनाता है । यथार्थवादी ढाँचे की भाषा सीधी-सपाट और ब्यौरेवार अधिक हो गई थी । दूसरी ओर युग के सत्य को भी इस ढाँचे में सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं मिल पा रही थी । हालाँकि प्राचीन आख्यानपरकता को त्याग कर पूरी तरह से पश्चिमी यथार्थवाद की शरण में जाने का उद्देश्य व्यापक यथार्थ को अभिव्यक्त करना ही था । "वैसे मनोरंजन के अपने परम्परागत उद्देश्य के साथ समझौता करते हुए उपन्यास विधा ने यथार्थ को अधिकाधिक गहन और बहुमुखी स्तरों को उद्घाटित करने का प्रयास किया किन्तु शीघ्र ही उसे व्यंग और विडम्बनात्मक तथा सूक्ष्म परिहासात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करना पड़ा - यथार्थ के दबाव के फलस्वरूप ।"[1]

---

1. उपन्यास स्थिति और गति, चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ-2

यथार्थ के एकांतिक दबाव से चरमराते औपन्यासिक ढाँचे को नयी दिशाओं की ओर मोड़ना आवश्यक था । उसके लिए उपन्यास को अपनी सीमाएँ विस्तृत करनी पड़ीं । हिन्दी औपन्यासिक ढाँचे की सीमाओं को लेकर समय-समय पर अनेक प्रयोग हुए, इसी बीच परम्परागत यथार्थवादी उपन्यास भी लिखे जाते रहे । मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मन्नू भण्डारी आदि के दौर के उपन्यासकार मध्यवर्गीय जीवन तथा नारी-पुरूष सम्बन्धों में उलझे रहे । इस दृष्टि से श्रीलाल शुक्ल, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा आदि ने व्यंग्य तथा इतिहास का सहारा लेते हुए एक अलग दिशा पकड़ी । अज्ञेय, हजारी प्रसाद द्विवेदी, फणीश्वरनाथ रेणु, निर्मल वर्मा तथा कृष्णा सोबती जैसे उपन्यासकार सन्नाटे को तोड़ कर सही मायनों में भारतीय उपन्यास के लिए भारतीय यथार्थ तथा भारतीय ढाँचा गढ़ने का सार्थक प्रयास करने में सफल कहे जा सकते हैं ।

कुल मिला कर हिन्दी उपन्यास के सन्दर्भ में यथार्थ तत्व की खोज किए जाने की आवश्यकता है जो हिन्दी उपन्यासकारों को आकर्षित करता रहा है । वाद के घेरे में लेकर हिन्दी उपन्यास का विश्लेषण, मूल्यांकन करना भ्रम पैदा करना होगा । सम्पूर्ण भारतीय यथार्थ को अभिव्यक्ति देकर कब विश्वस्तरीय उपन्यास हमारे यहाँ जन्म लेगा यह तो निकट भविष्य में ही स्पष्ट हो पाएगा, किन्तु इतना अवश्य कहा

जा सकता है कि अब तक के भारतीय उपन्यास यथार्थ तत्त्व से अलग करते हुए नहीं देखा जा सकता । यथार्थवाद में बाधना उसके अर्थ को जटिल बना देना होगा । "इसलिए बेहतर है कि हम रियलिटी प्रिंसिपल अर्थात वास्तविक सिद्धान्त की बात करें । इससे सम्भव है कि कुछ पूर्वग्रहों से मुक्ति मिल जाए । यथार्थवाद और यथार्थ शब्द में कुछ लोगों को एक विशेष प्रकार की विचारधारा की गन्ध मिलती है, इसलिए आप इसे वास्तविकता, ज़िन्दगी, जीवन की सच्चाई के नाम से पुकारिये ।"[1]

एक ही ढर्रे पर लिखे जा रहे उपन्यासों तथा यथार्थवाद से प्रभावित जड़ हो रहे उपन्यास को देखते हुए ही यथार्थवाद को विचारधारा के तौर पर ग्रहण न करके भारतीय जीवन की वास्तविकता को पहचाने की आवश्यकता पर डा॰ नामवर सिंह बल देते हैं । "यथार्थवाद का एक सुविधाजनक रीतिवाद प्रचलित होता जा रहा है । इसके खतरों के प्रति सचेत होने के कारण ही डा॰ नामवर सिंह जैसे सजग आलोचक यथार्थवाद से अधिक बल यथार्थ तत्व पर देने का आग्रह कर रहे हैं ।"[2]

1॰ वास्तविकता से जादुई वास्तविकता तक, नामवर सिंह, पूर्वग्रह,अंक-61-62, पृ॰ 19

2॰ गहरे साक्षात्कार की कशमकश, पुरुषोतम अग्रवाल, पूर्वग्रह अंक 76-77, पृष्ठ 12

हमारे यहाँ यथार्थवादी ढाँचे के अनुरूप प्रयोग की जाने वाली भाषा की सीमाओं को अनुकूल न पाकर कथ्य तथा भाषा के स्तर पर छेड़-छाड़ की जाती रही है । इन उपन्यासों को न तो यथार्थवाद से जोड़ा जा सकता है और न ही यथार्थ से अलग किया जा सकता है । यहाँ यथार्थवाद का प्रयोग भ्रान्तियों को जन्म देगा, इसलिए ऐसे उपन्यासों में 'यथार्थ तत्व' की पहचान से ही उनका सार्थक मूल्यांकन सम्भव हो पाएगा।

उपन्यास प्रकार्य और रूप

उपन्यास किसी वाद के अन्दर लिखा जाय या बाहर, उसका कोई न कोई आकार होता है, संरचना होती है । उपन्यास के इस प्रकार्य में उपन्यास की आन्तरिक बुनावट सिमटी रहती है । इस प्रकार उपन्यास का जो सम्पूर्ण ढाँचा सामने आता है उसे उपन्यास का रूप या 'फार्म' कहते हैं । यथार्थवादी ढाँचे में जो उपन्यास लिखे गए उनका भी अपना रूप था । यह अलग बात है कि उस उपन्यास रूप की सीमाएँ निश्चित थीं ।

वास्तव में उपन्यास के रूप या फार्म का सम्बन्ध उपन्यास के सृजन पक्ष से है । उपन्यासकार के मन में समाज का यथार्थ, मानव की स्थिति

तथा परिवेश आदि कच्चे माल की तरह विद्यमान रहते हैं । अपनी अनुभूतियों के सम्प्रेषण के लिए वह इन संग्रहीत भावों को रूप प्रदान करता है । जिस भाषा तथा स्वरूप के तहत यह भावाभिव्यक्ति होती है, वही उपन्यास का रूप या फार्म कहलाता है । यथार्थ का प्रभावशाली ढंग से पाठक के साथ साक्षात्कार कराने में ही लेखक का श्रम सार्थकता पाता है । भाषा की बुनावट के बीच कथ्य को समेटते हुए उपन्यासकार उपन्यास को रूप प्रदान करता है । विशिष्ट रूप अधिक तीव्रता से उपन्यास के अभिप्रेत को संप्रेषित करने तथा पाठक को बाँधे रखने की क्षमता रखता है । वह यथार्थवादी ढाँचे के सीधे-सपाट रूप की सपाटता तथा एकरूपता ही थी जिसके चलते उपन्यासकार रूप परिवर्तन की ओर प्रवृत्त हुआ । भारतीय समाज तथा जीवन को स्तर देने के लिए ऐसे ढाँचे की आवश्यकता थी जो भारतीयता के निकट होने के साथ-साथ उपन्यास के वैशिष्ट्य को भी बनाए रखता । इसके लिए यथार्थवादी ढाँचे के यथार्थ का अतिक्रमण करना आवश्यक था ।

"कथा के लिए यथार्थ, यों उतना ही अनिवार्य है जितनी कि भाषा : पर हमारे समय का महान साहित्य यथार्थ से आगे जाता है । उसके सामने दृष्टि, अतीत और स्मृति की नयी चुनौतियाँ पेश करता है । यथार्थ तक सीमित कथा इन चुनौतियों को चरितार्थ नहीं कर सकती । यह तभी संभव हुआ है जब उसने यथार्थ का अतिक्रमण किया है । अतिक्रमण अवहेलना या पलायन नहीं है । जो यथार्थ में बद्धमूल है वही अतिक्रमण कर सकता

है । आदि-मध्य-अन्त और सामाजिक व्यक्तिगत कोटियों में फैली हुई कथा चेतना अगर कलारूप का अपने समय और इतिहास के दबावों के अनुरूप कायाकल्प न कर सकी तो यह आश्चर्यजनक नहीं है ।"[1]

यथार्थवादी दौर के प्रभाव की कमजोरियों से परिचित होने पर उपन्यास में फिर से कथा कहने की प्रवृत्ति लौटी । रचनात्मक दृष्टि से यह एक सकारात्मक कदम था । सीधी-सपाट यथार्थवादी भाषा में कथा-तत्त्व का समावेश भाषा को सजीवता तथा विषय को नवीनता देने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ । एक ऐसे उपन्यास रूप के विकसित होने की संभावनाएँ बंधी जो व्यक्ति तथा समाज के विघटन के लिए जिम्मेदार मूल्यों को ही नहीं देखता था, बल्कि सृजनशील मूल्यों तथा मानवीय अनुभूतियों के सौन्दर्य को भी महत्त्व देता था । उपन्यास के इस रूप में परिवर्तन, परिवर्धन की अनेक संभावनाएँ विद्यमान थीं । मात्र यथार्थ से चिपके रहने पर उपन्यास का विकास अवरुद्ध हो जाता । "यथार्थ बिजली का कोई बल्ब तो नहीं जिसके पास जाकर कोई साहित्यिक विधा चमक जाती हो और दूर जाकर धुँधला जाती हो । उपन्यास की अर्थवत्ता, यथार्थ में नहीं, उसे समेटने की क्रिया, उसके संघटन की अन्दरूनी चालक शक्ति में

---

1. कथा यहाँ कहाँ, अशोक वाजपेयी, पूर्वग्रह-61,62 पृ. 6

निहित है ।"[1] इसीलिए उपन्यास की ताकत उपन्यास की प्रचलित सीमाओं को तोड़ने तथा निहितार्थ में यथार्थवादी होने से है । उपन्यास में निहित यही यथार्थ 'यथार्थ तत्व' की धारणा को बल देता है ।

हमारे यहाँ औपन्यासिक ढाँचे सम्बन्धी मौलिक प्रयोगों में यथार्थ-तत्व अधिक मुखरता के साथ उभर कर सामने आया है । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'मैला आँचल' जैसे असाधारण प्रयोगों के बाद भी 'राग दरबारी,' 'कब तक पुकारूँ,' 'जुगलबन्दी' आदि उपन्यासों ने रूप में मौलिकता लाने तथा वास्तविक जीवन से पाठक का साक्षात्कार कराने के प्रयास किए गए । "मुझे लगता है कि उपन्यास की रचनात्मकता बरकरार रखने के लिए शब्द की खो गई शक्ति सत्ता, स्वायतत्ता और कलात्मक गरिमा को फिर से पाया जाना चाहिए । अब यह साफ़ होता जा रहा है कि पारम्परिक साहित्यिक यथार्थवाद से सम्बद्धता और उसकी निरन्तरता, किसी बड़ी कलात्मक उपलब्धि में परिणत नहीं हो सकती । उनका पूरा दोहन हो चुका ।"[2]

शब्द की इस शक्ति से निर्मित रूप की विशिष्टता, 'नौकर की कमीज़,' 'कुरु-कुरु स्वाहा' तथा 'जिन्दगीनामा' में अपने परे निखार के साथ सामने आई

---

1. निर्मल वर्मा, पर्वग्रह, अंक-5, 1975, पृ. 9
2. धनंजय वर्मा, पर्वाग्रह अंक-21, पृ. 43

आई है । इन उपन्यासों का रूप परम्परागत उपन्यास-रूप को चुनौती देता हुआ कहीं आगे बढ़ जाता है । इन उपन्यासों ने भारतीय उपन्यास को उसका निजी ढाँचा देते हुए उपन्यास के विकास की अपार सम्भावनाओं को नयी दिशा दी है ।

जीवन से साक्षात्कार :

हिन्दी उपन्यासों के रूप में परिष्कार करके उसमें यथार्थ को समेटने की प्रक्रिया में लेखक का अभिप्रेत पाठक से जीवन का साक्षात्कार कराने का होता है । स्वतंत्र्योत्तर परिवेश में हिन्दी उपन्यासकार की बौद्धिकता तो बढ़ी है किन्तु उसकी अनुभव शक्ति क्षीण हुई है । यह लेखक की ही नहीं आधुनिक मानव की भी विडम्बना है । जिन उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति ही पाई है वह जीवन सत्य को उद्घाटित करने में कहाँ तक सफल हुए हैं तथा जीवन से उनका साक्षात्कार कितने व्यापक ढंग से हो पाया है, इन प्रश्नों की पड़ताल करना आवश्यक है ।

उपन्यासकार जो लिखता है वह कितना सत्य है, कितना यथार्थपरक है । उसकी रचना की यथार्थ वहन करने की क्षमता उसमें निहित जीवन सत्यों पर आधारित होती है । जीवन सत्य पूरी ईमानदारी से अभिव्यक्त हो पाया है या फिर भाषा के चमत्कार में ही उलझ कर रह

गया है, या उसका यथार्थ बोध ही संदिग्ध है । यह सब बातें उपन्यास के मूल्यांकन का पैमाना होती हैं । हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासों का ऐसे प्रतिनिधि उपन्यासों का जो गोदान तथा झूठा सच के बाद एक नए भाषिक तथा शैल्पिक तेवर लेकर सामने आए - सरसरी तौर पर मूल्यांकन किया जा सकता है, कि ये उपन्यास जीवन से साक्षात्कार करा पाने में कितने सक्षम सिद्ध हुए हैं ।

शुरुआत 'त्यागपत्र', 'शेखर एक जीवनी' तथा 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' से की जा सकती है । 'त्यागपत्र' में जैनेन्द्र ने भाषा को एक नए ढंग से ढालने का कार्य किया । यह बेजोड़ उपन्यास नए भाषिक तेवर में जीवन सत्यों से साक्षात्कार कराता है । विवरणात्मक शैली के स्थान पर व्यंजक शैली का बहुत सफल प्रयोग उन्होंने किया है । 'शेखर एक जीवनी' तो कथ्य, भाषा और रूप को लेकर उस समय में एक जलजले की तरह सामने आया । स्ट्रीम बैक प्रविधि में यह नितान्त भिन्न प्रयोग था । समाज के यथार्थ से वैयक्ति यथार्थ की तलाश की शुरुआत 'त्यागपत्र' के बाद 'शेखर एक जीवनी' में पूरी तरह से मुखरित हुई है ।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' तो समूचे ढाँचे को, यथार्थवादी ढाँचे को चुनौती देता हुआ प्रतीत होता है । "हजारी प्रसाद द्विवेदी के औपन्यासिक प्रयोग इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उनमें भारतीय उपन्यास की सम्भावनाओं का

एक वैकल्पिक स्रोत हमें मिलता है । हम उस स्रोत को भूल ते गए थे । जिन्हें वह याद था, वे पण्डित थे, उपन्यासकार नहीं थे । आचार्य जी ने अपने पाण्डित्य का औपन्यासिक प्रयोग खूब किया । और यह सिद्ध कर दिखाया कि गल्प या गप्प भी गम्भीर और रोचक उपन्यास का ही एक कलात्मक रूप हो सकता है ।"[1] यह रूढ़ ढाँचे की प्रतिक्रिया में वैकल्पिक प्रयोग था । इन उपन्यासों ने प्रयोग का जोखिम उठाने के लिए आने वाली पीढ़ी के लिए मार्ग प्रशस्त किया ।

इन तीनों ही उपन्यासों में जीवन के यथार्थ खण्डों के विभिन्न रूपों को उभारा गया है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय मानस तथा उपन्यासकार के सामने अतीत की कड़वाहट थी तथा भविष्य के सपने भी । थोड़ा बाद के उपन्यासों में खण्डित सपनों से उत्पन्न खण्डित व्यक्तित्व का करुणा प्रधान वर्णन, मध्यमवर्गीय कुण्ठा देखने में आती है । कुल मिलाकर भारतीय जीवन की बहुआयामी अभिव्यक्ति हिन्दी उपन्यास परम्परा में मिलती है । "इन उपन्यासों में जीवन के खण्ड-सत्यों के असंख्य सूक्ष्म तथा मार्मिक रूप अनुभूति की तीव्रता और विविधता के अनगिनत स्तरों पर बिखरे पड़े हैं ।

---

1. पूर्वग्रह, कृष्णबलदेव वैद्य, अंक 81-82, पृ. 42

उनमें से किसी में सम्पूर्ण युगव्यापी सत्य को समेटने का प्रयत्न प्राय: नहीं है । अथवा है भी, तो वह अधिक सफल नहीं होता ।"[1] यह अब तक की हिन्दी उपन्यास की विडम्बना रही है कि हम एक भी ऐसा उपन्यास नहीं दे पाए जो समूचे, व्यापक युग के यथार्थ को जीवन्त कर पाने में सक्षम हुआ हो । हर उपन्यास की विचारदृष्टि अलग रही है और अपने सीमित अनुभवों को ही ज़्यादा से ज्यादा प्रभावशाली ढंग से उभारने का प्रयत्न उनके द्वारा हुआ है ।

'मैला आंचल' और उससे भी कुछ पहले 'बलचन मा' से हिन्दी उपन्यास की एक नयी धारा उपजी । किसी अंचल को उसकी भाषा-संस्कृति सहित यथार्थ रूप में अभिव्यक्ति देने की परम्परा चल निकली । "साथ ही अनिवार्यत: इस रुझान ने शीघ्र ही एक रीति का रूप ले लिया और किसी प्रदेश या समुदाय विशेष को आधार बनाकर उपन्यास लिखने की धूम सी मच गई । फलस्वरूप जीवन के बाह्य यथार्थ को किसी प्रकार की प्रामाणिकता से प्रस्तुत करने के स्थान पर एक प्रकार की रोमैंटिक भावुकता उभर आई ।"[2]

---

1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, द्वितीय सं. 1989 पृ.2
2. वही, पृ. 5

फिर भी कुछ उपन्यास सीमित श्रेष्ठता के साथ सामने आए । राँगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ,' श्रीलाल शुक्ल का 'रागदरबारी', 'मुगलबन्दी', 'आधागाँव' आदि से 'जिन्दगीनामा' तक यह कड़ी जाती है । 'जिन्दगीनामा' उपन्यास की विशिष्टता की दिशा में एक भिन्न एवं महान प्रयोग है, अन्य उपन्यासों की अनुगूँज भी साहित्य जगत में देर तक सुनाई देती रही । फिर भी सम्पूर्ण भारतीयता हमें कहाँ मिल पाती है !

इसी बीच एक और परम्परा विकसित हुई -- व्यक्ति, स्त्री-पुरुष सम्बन्धों तथा मध्यमवर्गीय समाज की समस्याओं-कुण्ठाओं को प्रकट करने की । कमोबेश बहुत से उपन्यासकारों ने इस दायरे में बहुत से उपन्यास लिखे । राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, मन्नू - भण्डारी आदि अनेक नामों के साथ इलाचन्द्र जोशी के वैयक्तिक उपन्यासों को भी जोड़ा जा सकता है । "राजनीतिक स्वतन्त्रता की भ्रान्ति ही हमारी साहित्यिक अभिव्यक्ति जन्म से ही अभिव्यक्त है - हमारा यथार्थ-वाद सतही है, हमारी काव्यात्मकता भावुकता मात्र रह जाती है व्यक्तित्व पर आग्रह कुण्ठा का रूप ले लेता है, सामूहिक चेतना की खोज पक्षधर राजनीतिक मान्यताओं का प्रचार बन जाती है ।"[1] गहरे यथार्थ से जूझने की कशमकश यहां दिखाई तो देती है किन्तु वह सिमटा हुआ यथार्थ है, बल्कि 'यथार्थ खण्ड' हैं ।

---

1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, द्वितीय सं. 1989, पृ. 6

आख्यान के यथार्थवादी ढाँचे का रूपवाद :

हिन्दी उपन्यास का मूल्यांकन यथार्थवाद या रूपवाद जैसे घोषित वादों के कटघरे में करना एकांगी तथा पूर्वग्रह से ग्रसित दृष्टिकोण का परिचायक होगा । बेशक हिन्दी उपन्यास पर पश्चिम का प्रभाव रहा है किन्तु उसे आयातित वाद के कटघरे में नहीं बाँटा जा सकता । वैसे भी प्रभाव ग्रहण करना एक अलग बात है और प्रभाव ग्रहण करके मौलिकता लाना एक दूसरी बात । यूरोप में अक्सर ही उपन्यास दो धाराओं में बँटा रहा है, तथा भारतीय उपन्यास पर उसका कमोबेश प्रभाव पड़ा ही है । जो परम्परावादी उपन्यासकार थे वे यथार्थवादी कहलाए तथा परम्परा से हट कर रूप के स्तर पर प्रयोग करने वालों को रूपवादी घोषित किया गया । यह एक ऐसा रोचक विवाद है जिसके चलते यथार्थवादी उपन्यासकार स्वयं ही रूपवाद के कटघरे में कैद दिखाई देता है । इस रोचक विचार की एक झलक यथार्थवादी विलियम कूपर तथा रूपवादी एलन रॉब के बीच आरोप-प्रत्यारोपण से अधिक स्पष्ट हो सकती है ।

यूरोप में परम्परावादियों द्वारा 20वीं सदी के प्रयोगवादी उपन्यासकारों पर आरोपों की बौछार हो रही थी । इस बीच फ्रांस के प्रयोगवादी उपन्यासकार एलन रॉबग्रिये का उपन्यास 'द वोयर' भी चर्चा में

आया । यथार्थवाद को सर्वोपरि मानने वाले विलियम कूपर ने इस उपन्यास को निरर्थक प्रयोग कहा तथा ग्रिये को रूप के प्रति आग्रह के कारण रूपवादी कहा । "ऐसे ही एक फ्रांसिसी हैं श्री एलन राब्बग्रिये । इन महाशय जी ने अभी-अभी 'द वोयर' नाम से एक उपन्यास प्रकाशित किया है, जिसमें अपना सारा ध्यान केवल दृष्य संवेदनों पर ही केन्द्रित रखा है - इस हद तक कि आपको मालूम होगा कि इस आँख के पीछे किसी दिमाग नाम की चीज़ का अस्तित्व ही नहीं है ।"[1]

दूसरी ओर एलन राबग्रिये नम्रतापूर्वक यथार्थवादी उपन्यासकारों द्वारा स्थापित महान चरित्रों के महत्त्व को स्वीकार तो करते हैं किन्तु परवर्ती परम्परावादियों द्वारा उसी ढर्रे के उपन्यासों का सृजन करना रूढ़ी को ढोने के समान बताते हैं । परम्परा से चले आ रहे यथार्थवादी उपन्यास की कथावस्तु कथ्य को प्रधान मानकर उसके यथार्थपरक चित्रण पर ही अधिक ज़ोर देते हैं । आदि-मध्य और अंत के ढाँचे में वे सम्पूर्ण कथ्य को साधे रखते थे । उपन्यास के कला पक्ष की ओर भी ध्यान देने वालों को वे रूपवादी उपन्यासकार कह कर उनकी आलोचना करते थे । "बल्कि तथ्य तो यह है कि यह

---

1. सागर पार की हलचलें, अनु. शरद देवड़ा, ज्ञानोदय, फरवरी 1962, पृ. 14

परम्परावादी कट्टर सिद्धान्त आज और भी अधिक उत्कटता से लागू किया जाता है । रूपवाद का यह दोष आज और भी जोश-ख़रोश के साथ उस साहित्य पर लगाया जाता है जिसके लेखक अनकामिटेड हैं ।"[1]

यथार्थवादी परम्परा से हटकर प्रयोग करने वाले तथाकथित 'रूपवादी' उपन्यास के ढाँचे को दायरे में न बाँध कर उसे खुला छोड़ देने के पक्ष में थे । जीवन से जुड़े हुए पहलुओं को ही नहीं बल्कि मानव और समाज के साथ जुड़े सम्पूर्ण परिवेश को भी उन्होंने आत्मसात किया । सुगठित भाषा तथा शिल्प में उपन्यास को नवीनता प्रदान करने कारण वे रूपवादी कहलाए । यहाँ परम्परा की नहीं मौलिकता की प्रधानता थी।इन विशिष्ट प्रयोगों ने उपन्यास के लिए सम्पूर्ण जीवन में हस्तक्षेप के दरवाज़े खोले ।

महत्वपूर्ण प्रयोग करना तथा परम्परा से विद्रोह करके प्रचलित ढाँचे की प्रतिक्रिया में नए-नए रूपों का निर्माण करना रूपवाद नहीं हो सकता । क्योंकि यह प्रयोग किसी रूढ़ हो जाने वाली परम्परा का निर्माण नहीं करते बल्कि यथार्थ से ज्यादा गहरे स्तर पर साक्षात्कार करने की क्षमता इनमें दिखाई देती है । इन कारणों में देखा जाए तो यथार्थवादी उपन्यासकार स्वयं ही उपन्यास के रूढ़ रूप से चिपके रहकर एक प्रकार के रूपवाद का निर्माण करते हैं । इसलिए रूपवादी वे स्वयं हैं न कि प्रयोगवादी

---

1. रागेय राघव की कहानी 'गदल', रागेय राघव, हार्वेस्ट, जनवरी 1962, पृ.119

उपन्यासकार । "ये उपन्यासकार विशेष कर ऐसा रूप उपयोग में लाते हैं जो स्वयं को सिद्ध कर चुका है, घिस चुका है और अपनी सम्पूर्ण शक्ति, अपनी समस्त जीवन्तता खो चुका है । दरअसल यही उपन्यासकार रूपवादी होते हैं, क्योंकि इन्होंने बना-बनाया निर्जीव रूप अख़्तियार कर लिया है जो अब महज एक फ़ार्मूला बन चुका है । वे रूपवादी हैं क्योंकि वे इस सड़ती हुई दुर्गन्धित लाश से चिपटे रहते हैं ।"[1] जिन परम्परावादियों ने रूपवाद जैसे नाम को उपन्यास के लिए रूढ़ किया वे स्वयं ही उसके जाल में फँस कर रह जाते हैं क्योंकि वे परम्परा को ढो रहे हैं और नए-नए प्रयोग करके उपन्यास की सम्भावनाओं को विस्तृत कर रहे हैं । मौलिक रूप कभी भी घिसापिटा नहीं हो सकता ।

कमोबेश यही बात हिन्दी उपन्यास पर भी लागू होती है । हिन्दी में उपन्यास रूप को लेकर प्रयोग हो ही रहे हैं तथा किसी बड़े प्रयोग की सम्भावनाओं को नकारा नहीं जा सकता । ऐसा प्रयोग जो अपनी सम्पूर्णता में भारतीय होने के साथ-साथ व्यापक जीवन यथार्थ से साक्षात्कार करा पाने की क्षमता भी रखता हो । ऐसे प्रयोगों को रूपवाद जैसे किसी वाद में नहीं बाँधा जाना चाहिए । क्योंकि ऐसे विवाद विकास का मार्ग ही अवरुद्ध करते हैं ।

---

1. सागर पार की हलचलें (उ), शरद देवड़ा, ज्ञानोदय जनवरी 1962, पृ. 19

द्वितीय अध्याय

'ज़िन्दगीनामा' की सर्जनात्मक चुनौती

1. प्रयोग के लिए प्रयोग या कुछ और
2. प्रचलित ढाँचे का परित्याग - एक मूल्यांकन

'जिन्दगीनामा' की सर्जनात्मक चुनौती

कोई भी कृति जब परम्परागत सरहदों को तोड़ती हुई सर्जनात्मकता के नए प्रतिमान गढ़ती है तो वह निश्चित रूप से परम्परा को चुनौती देती हुई आगे निकल जाती है। 'जिन्दगीनामा' भी एक ऐसी ही रचना के रूप में सामने आता है जो भाषा तथा औपन्यासिक ढाँचे के चले आ रहे रूप को तोड़ता है। नए औपन्यासिक ढाचे में जीवन-चक्र को देखने का यह अनुभव अपने आप में अनूठा है, उत्कृष्ट है।

जहाँ भी परम्परा से अलग हट कर नया सृजन होता है, परखने वाली नज़रें भी उस कृति की ओर उठती हैं। 'ज़िन्दगीनामा' लीक से हटकर लिखा गया उपन्यास है। मात्र परम्परा से विद्रोह ही काफ़ी नहीं, कृति में सर्जनात्मक ऊर्जा का होना भी आवश्यक है कि वह एक चुनौती बनकर सामने आ सके। कृष्णा सोबती की एक-एक कृति बरसों बाद सामने आती है, और जब आती है तो शब्द छनकर आते हैं और रचना में कलाकार की तराश होती है। "लेकिन मोती चुनना, पच्चीकारी या ज़रदोज़ी की महीन-नफ़ीस कारीगरी ..... शब्दों को कोई भी ऐसा नाम दिया जा सके तो हिन्दी में वह सिर्फ कृष्णा जी ने किया है। एक-एक शब्द, वाक्य, कॉमा, फुलस्टाप जैसे हफ्तों के परिश्रम से आया है। वे भयंकर परफैक्शनिस्ट हैं। अपनी कलम से कभी भी उस चीज़ को बाहर नहीं आने देंगी जिसकी सारी नोंके-पलकें उन्होंने दुरूस्त न कर ली हों।"[1] जिन्दगीनामा कृष्णा जी के अब तक के लेखन की

---

1. राजेन्द्र यादव, औरों के बहाने, अक्षर प्रकाशन, प्र. सं. 1981, पृ. 37

अन्तिम सर्जनात्मक परिणति है । यह हिन्दी उपन्यास का विशिष्ट रूप है । चर्चा में आते ही जिन्दगीनामा की आलोचना भी हुई । उपन्यास के इस नये रूप को सराहा गया तो इसे दुरूह तथा गांव तक ही सिमटा हुआ बताया गया । यह तो जिन्दगीनामा को देखने का अपना-अपना नजरिया है । कुल मिलाकर यह उपन्यास सर्जनात्मकता के स्तर पर चुनौती देने में पूर्ण रूप से सक्षम सिद्ध हुआ है ।

1. प्रयोग के लिए प्रयोग या कुछ और

जिन्दगीनामा हिन्दी उपन्यास परम्परा में एकदम नये प्रयोग के रूप में सामने आया । कथ्य, भाषा तथा ढाँचा सब कुछ अलग । यहां सवाल यह खड़ा हो जाता है कि लेखिका का उद्देश्य मात्र प्रयोग करके सबको चौंका देने का रहा होगा या फिर इसके पीछे सर्जनात्मक दृष्टि निहित थी ।

मात्र प्रयोगात्मक दृष्टि से लिखी गई कृति उत्कृष्ट नहीं हो सकती । हर उत्कृष्ट प्रयोग के पीछे गहन जीवन-दृष्टि, लेखकीय परिश्रम एवं भाषिक परिमार्जन छिपा रहता है । कहने का तात्पर्य यह है कि प्रयोग करना ही ऐसे लेखक का अभीष्ट नहीं होता, उसका उद्देश्य तो कृति को हर प्रकार से विशिष्ट रूप देते हुए अपनी जीवन-दृष्टि स्पष्ट

करना होता है और वह स्वत: ही एक नए प्रयोग के रूप में जानी जाती है । ऐसी कृतियां उस प्रकाश-स्तम्भ की भांति होती हैं जो आने वाली पीढ़ियों का मार्ग-प्रशस्त करती हैं ।

द्विवेदी जी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हो या जैनेन्द्र का 'त्यागपत्र', अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी' हो या रेणु का 'मैला आँचल' - ये उपन्यास पहले एक नयी जीवन-दृष्टि तथा औपन्यासिक चेतना लिए हुए हैं, बाद में प्रयोग हैं । महान या उत्कृष्ट प्रयोग । मात्र प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं ।

यही बात कुछ वर्ष पहले लिखे गए 'कुरु-कुरु स्वाहा,' 'नौकर की-कमीज़' तथा ज़िन्दगीनामा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । ज़िन्दगीनामा लेखिका की व्यापक जीवन-दृष्टि तथा लेखकीय परिमार्जन का कमाल है । यह उपन्यास लिखने से पहले उनके मन में मात्र प्रयोग करने का विचार कतई नहीं था । यह उपन्यास लेखिका के मन में वर्षों से पलता रहा है, वर्षों से उसका ताना-बाना बुना जाता रहा है ।

देश का विभाजन इतनी बड़ी घटना थी कि उस पर हिन्दी सहित अन्य भाषाओं में भी लेखकीय संवेदना उभर कर सामने आयी । कथा साहित्य में कहानी तथा उपन्यास, दोनों विधाओं में इस विभाजन की जड़े तलाशी गईं तथा विभाजन की त्रासदी को शब्द दिए गए ।

हिन्दी में तमस तथा झूठा सच जैसे उपन्यास सामने आए।इन्ही दिनों कृष्णा सोबती की एक कहानी भी प्रतीक में प्रकाशित हुई - 'सिक्का बदल गया'। विभाजन से प्रभावित शाह परिवार की शाहनी का चित्र इस कहानी में उभरा तो जरूर किन्तु लेखक के अन्दर उसका निरन्तर विकास होतारहा । वर्षों पहले कृष्णा जी ने एक और उपन्यास लिखा था -'चन्ना'। प्रेस में जाने के बाद अचानक इसे वापिस ले लिया गया क्योंकि लेखिका इससे पूरी तरह संतुष्ट नहीं थी, कि कहीं कुछ कमी रह गई है । फिर एक लम्बी कविता - जो उपन्यास के आरम्भ में है - लिखी गई, उपन्यास फिर से लिखे जाने से बचने के लिए । लेकिन अन्दर का लेखक बराबर उन्हें उकसाता रहा और जिन्दगीनामा पलता रहा । तब कहीं जाकर 'जिन्दा - रुख़' के रूप में उसका पहला भाग सामने आया । "सुनते हैं उन्होंने पंजाब-विभाजन पर एक बड़ा उपन्यास लिखा है । स्पष्ट है कि बहुत काम किया होगा । उसे उन्होंने लीडर-प्रेस में छपने के लिए दिया तो पाठक जी ने उसका सम्पादन कमलेश्वर जी से करवाया । शायद वह छपा भी । लेकिन तभी लहर आयी कि इसे नहीं छपना चाहिए । ..... उन्हीं के मुँह से सुनता हूँ कि उसकी हथकड़ियां खोली गई है, कभी नेशनल आरकाइव्ज़, कभी नेहरू म्यूज़ियम और कभी पुरानी दिल्ली के किसी इन्तहा बुज़ुर्ग वाली गली के चक्कर काटे जा रहे हैं कि उसके बारे में कुछ चीजें जाननी हैं । इतनी मेहनत से मैं तो शायद पूरी थीसिस लिख डालता ।"[1] 'ज़िन्दगीनामा' नि:सन्देह किसी भी थीसिस के

---

1. राजेन्द्र यादव, औरों के बहाने, अक्षर प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1981 पृ. 37

काम से ऊपर की चीज़ है । इतिहास की जड़ों में जाना और उसे फ़िर से जीना, उसी जन की भाषा में जो उस इतिहास की साक्षी रही है - यह अपने आप में एक बहुत बड़ा काम था । इसे मात्र प्रयोग नहीं कहा जा सकता ।

भाषा के स्तर पर जो प्रयोग किए गए हैं, उनमें लेखकीय समझ इतनी महीन है कि बरबस ही लेखक की प्रशंसा में उन्मुक्त कण्ठ से शब्द फूट पड़ते हैं । मात्र ब्याह-शादी के अवसर पर गाने वाले मिरासी का ही प्रसंग लें तो यह देखने की चीज़ है कि किस तरह से मिरासी हिन्दू तथा मुसलमान, दोनों को खुश रखने के लिए शब्दों का प्रयोग करता है । वह इन्द्र महाराज के दरबार का किस्सा सुना रहा है, पर यह भी जानता है कि दोनों धर्मों के बाराती बैठे सुन रहे हैं । बात ही बात में कैसे बात बदली जाती है यह देखने की बात है -

"जानी दरवेश के कान में कहा, 'यहां तो सारी अप्सराएं महाराज इन्द्र को ही लिपटी हुई हैं । काहे को दिल तरसायें अपना । यहां आए ही हुए हैं तो चलो, अल्लाह-ताला से भी मिलते जाएं ।'

'महाराज इन्द्र ने भी हमारे मन की भांप ली । हुक्म दिया - 'प्रतिहारी, इन्हें अल्लाह मियाँ के दरवाज़े तक छोड़ आओ । हाँ, उन्हें मेरा सलाम कहना और कहना कि इन्द्र आपकी कुशल-क्षेम पूछते थे ।'

'जी महाराज ।'

'बारातियो, इस मिरासी को खुड़क गई । हो न हो जब से हिन्दुस्तान का नया लाट आया है तब से परमपिता परमात्मा और अल्लाह तआला के ताल्लुकात दो नए-नए समधियों की तरह खुश तलिका हो गए हैं ।'[1] इसी तरह अन्य स्थानों पर भी पात्रों के मुंह से जो संवाद बुलवाये गए हैं वे मात्र शब्दों की पच्चीकारी नहीं है, बल्कि उनके पीछे लेखिका की गहन जीवन-दृष्टि समाई हुई है ।

वास्तव में भाषा के स्तर पर जितने भी प्रयोग हुए हैं वह उपन्यास के कथ्य की मांग थी । गुजरात के जिस डेराजट्ट गांव को उपन्यास में जीवंत किया गया है उस जगह की बोलचाल की भाषा को उपन्यास में लाना ज़रूरी था । शब्दों का चुनाव, शब्दों की ताकत उपन्यास में अपनी सार्थकता सिद्ध कर पाई है । आम आदमी की तद्-युगीन ज़ुबान को सुरक्षित रखने का कार्य अपने आप में एक बहुत बड़ा प्रयोग है ।

इसलिए 'जिन्दगीनामा' मात्र प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं बल्कि गहन जीवन-दृष्टि तथा लेखकीय परिश्रम का परिणाम है । यह हर स्तर पर प्रचलित औपन्यासिक धारणाओं को तोड़ता है, इसलिए नवीनता के के हर स्तर पर एक प्रयोग है, एक सार्थक प्रयोग ।

---

1. कृष्णा सोबती, जिन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. 1979, पृ. 317

2. प्रचलित ढाँचे का परित्याग - एक मूल्यांकन

हिन्दी उपन्यास परम्परा में कुछ अपवादों को लेकर उपन्यास एक परम्परागत ढाँचे के अन्दर लिखा जाता रहा है । कथ्य में नवीनता होने के बावजूद उपन्यास की सीमाएं सिमटी हुई थी । इस ढाचे में उपन्यास बहुत कुछ नया कर दिखाने में सक्षम नहीं लग पा रहा था । हमारे यहां यथार्थवादी ढाँचा अधिक प्रचलित रहा है, जो कि पश्चिम की देन है । पश्चिम ने इस ढाचे का दोहन करके इसे त्याग दिया, किन्तु हमारे यहां इस दायरे से बाहर झांकने के प्रयास यदा-कदा ही हुए । "सो जब हम उपन्यास की बात करते हैं तो उसके एक ही स्वरूप की बात करते हैं और यह भूल जाते हैं कि वह स्वरूप पश्चिम में भी बरसों पहले सूख चुका था और हम अभी तक उसी से चिपके हुए हैं, उसी को दोह रहे हैं । ..... कुछ प्रयोग उपन्यास को आगे की तरफ ले जा रहे हैं तो कुछ पीछे की तरफ भी । वहां के सजग और गंभीर उपन्यासकार यह रट नहीं लगाए रहते कि उपन्यास पहले पश्चिम में पैदा हुआ । वेअपनी पुरानी कथा परम्परा को खोदने - खोजने - लूटने में कोई संकोच महसूस करते हैं, न किसी ऐसी बेगानी परम्परा से कुछ ऐसा लेने में जो उन्हें अनुकूल लगे, संभावनायुक्त दिखाई दे। "[1]

---

1. कृष्ण बलदेव वैद्य, लेख, पूर्वग्रह 81-82, पृ. 53

जबकि हमारे यहां इसके विपरीत हुआ है । हिन्दी उपन्यास ने यूरोपिये ढाँचे को अनुकूल जानकर अपनाया तो सही किन्तु अपनी कथा परम्परा को पलट कर नहीं देखा । घिस रहे ढाँचे को बदलने की ज़रूरत न समझी । बीच-बीच में जो भी प्रयोग हुए वे अपनी अनुगूँज तो छोड़ गए पर हिन्दी उपन्यास पर यथार्थवादी ढाँचे का प्रभाव बना रहा । 'बलचनमा' तथा 'मैला आँचल' जैसे उपन्यासों ने एक नया आँचलिक ढाँचा दिया । इस ढाँचे में 'मैला आँचल' को ही दोहने की कोशिश की गई । लेकिन 'मैला आँचल' के बाद आँचलिकता के नाम पर जो भी रचनाएं सामने आती हैं, उनमें यह जनपद या तो क्षीण होने लगता है या गायब । ग्रामीण वास्तविकता के नाम पर उनमें केवल विघटन और विकृति ही शेष बचती है और वे केवल सतह के यथार्थ को ही देख पाते हैं । इस अर्थ में आँचलिकता एक विशेष रचना-दृष्टि एवं पद्धति के रूप में विकसित होती है, और वह नई कथा रूढ़ियों को जन्म देती है । इसलिए कोई उपन्यास 'मैला आंचल' की सी सफलता तक नहीं पहुंच पाता है - खुद रेणु की परति-परिकथा भी नहीं ।"[1]

ऐसे में 'जिन्दगीनामा' हिन्दी उपन्यास के हर तरह के ढाँचे से अलग एक नया रूप है । एक ऐसा रूप जो अपने में बहुत कुछ समेट कर चलता है । जो कथा नहीं कथाओं को लेता है । जो चित्र नहीं

---

1. निर्मला जैन, हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1987, पृ. 54

चलचित्र है, ऐसा चलचित्र जो परे गाँव की तस्वीर सामने रखता है । इस उपन्यास का ढाँचा कहीं से भी बंधा हुआ प्रतीत नहीं होता । हर खण्ड अपने आप में अलग है, वह दूसरे खण्ड से कहीं नहीं जुड़ता और लेखिका का कमाल यह कि वह टूटा हुआ भी नहीं लगता । अपनी समग्रतामें वह एक है, एक बड़े फलक पर एक ही स्थान के बहुत से दृश्य । "उपन्यास में कथा बहुत है, जो है - वह दृश्यों का एक क्रम है, जैसे कोई व्यक्ति अपनी पुरानी यादें सिनेमा की रील की तरह अपने मस्तिष्क में दोहराए, लेकिन क्रम से । कृष्णा सोबती ने भी जिन्दगीनामा में गुजरात के 'हेराजदट' की यादों को दृश्य में बांधकर प्रस्तुत किया है ।"[1]

उपन्यास को समेटने वाली कविता के समाप्त होते ही शरदपुण्य की रात में बड्डे लाला कथा कहते है, ब्रह्माण्ड की कथा, जो गाँव में जिज्ञासा से सुनी जाती है । इसके तुरंत बाद शाहनी का प्रसंग फिर 'त्रिंजन' के मौके का चित्रण और फिर लोहड़ी का त्यौहार । और इसी तरह से छोटे-बड़े प्रसंगों के बीच गाँव की मजलिसों की योजना तैयार की गई है । इन मजलिसों का 'ज़िन्दगीनामा' में अपना महत्त्व है, ठीक वैसे ही जैसे , किसी भी गाँव में रोज़ शाम को लगने वाली चौपालों का । आज तो स्थितियां बदल गयी हैं, वरना एक समय में गाँव की साँझें इन मजलिसों से ही गुँजान हुआ करती थी । सोबती जी ने इन मजलिसों को

---

1. चमनलाल, प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास, हरियाणा साहित्य अकादमी प्र., 1988, पृ. 157

फिर से जिन्दा किया है । "क्या हम सचमुच ऐसे समय की कल्पना कर सकते हैं जब गाँव में सिवाय खाट, चारपाई या मंजी के कोई दूसरा फर्नीचर नहीं होता था । मनोरंजन का शुगल भी इतना ही कि गाना, स्वाँग और हर दिन वही गप्पें । वही प्रसंग, वही आख्यान । 'जिन्दगीनामा' इस सदी की सुबह से आरंभ होता है । हम इसे इसके प्रामाणिक परिप्रेक्ष्य में जाँचने की कोशिश करेंगे तो इसे लेकर कथ्य, तम्प्रेषणीयता और परिवेश की बहुत सी धारणाएँ साफ होंगी ।"[1] इन मजलिसों की योजना ने 'जिन्दगीनामा' को यथार्थ के करीब तो रखा ही, एक नए ढाँचे को भी अनायास ही जन्म दिया ।

इन मजलिसों को डा. विश्वनाथ त्रिपाठी ने कुछ इस प्रकार देखा है, "भाषा की विशिष्टता को बनाए रखने का संबंध बार-बार मंजियाँ बिछाकर बातचीत की योजना से भी है । इससे ज़्यादातर घटनाओं को बातचीत के क्रम में ही समेटा गया है । इससे महत्त्वपूर्ण घटनाएं अपनी स्वतन्त्र धार खो बैठी हैं । लेखिका का आग्रह है गाँव के घटना स्थल को गाँव तक ही सीमित रखना ।"[2]

ज़िन्दगीनामा सीमांत गाँवों का प्रतिनिधि उपन्यास है । यहाँ की अपनी अलग ज़िन्दगी है । लेखिका को उस ज़िन्दगी की धड़कन

---

1. कृष्णा सोबती, सोबती से साक्षात्कार, परिशिष्ट-शोध प्रबंध, पृ.
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, बिम्ब का रोमांच आख्यान, आजकल, जनवरी 1980 पृ.

पकड़नी थी और इसी धड़कन में समायी देश-विदेश की छोटी-बड़ी घटनाएँ । उन्हें मजलिसों की गप्पबाजी में पिरोकर दिखाना ज़िन्दगीनामा की खूबी कही जानी चाहिए न कि कमज़ोरी ।

कलकत्ता की साम्प्रदायिक घटनाओं का जो सटीक वर्णन तूफ़ान सिंह की चिट्ठी के माध्यम से हुआ है वह किसी भी तरह से कलकत्ता की वास्तविकता को उजागर करने से नहीं चूकता । यह चिट्ठी भी मजलिस में ही पढ़कर सुनायी गई है । लाहौर तथा काबुल की नारियों की सुन्दरता के किस्से दीनमुहम्मद तथा मुराद अली के मुँह से गाँव की गप्पबाजी को जीवंत चित्र के रूप में प्रस्तुत करते हैं -- "दीनमुहम्मद यह तो बतो कि देखने-सुनने में कैसी हैं लाहौरनें ।"

कुछ न पूछो । गाल गुलनार और रंग महागौरे ..... "

हमिदे ने जुमला पूरा कर दिया - "रंग गौरे और जायके जनानियों के खंड बोरे ।"[1]

गाँव से एकाध बार बड़ा शहर घूम आने के बाद गाँव की चौपालों में लोग ऐसी ही गप्पे हाँकते हैं, ऐसी कि सुनने वालों के मुँह खुले रह जाएँ और बातों ही बातों मे उन्हें लाहौर या काबुल दिख जाए । इसी चीज़ को पकड़ने में लेखिका पूरी तरह से सफल हुई है और यही ज़िन्दगीनामा की भी सफलता है । इन घटनाओं के स्वतंत्र ब्यौरों में न पड़कर ही

---

1. कृष्णा सोबती, ज़िन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, तृ. सं. पृ. 98

'ज़िन्दगीनामा,' जिन्दगीनामा बन पाया है । 'अपनी ओर से केवल इतना ही कि लेखक द्वारा इसे देखने में वह शहर के प्रभावों से निश्चित रूप से मुक्त रहा है । देसीपन में देशबद्ध और नागर संस्कार से देशमुक्त होकर ही 'ज़िन्दगीनामा' के मर्त-अमर्त को एक लय में ढाल दिया गया । इसलिए मुमकिन था कि लेखक के निकट ना गाँव की एक पीढ़ी का अनुभव था और न शहर ही । ..... इसके बावजूद जो दीखता था वह इधर था और जो सुनाई पड़ता था, वह उधर था ।'[1] इस प्रकार गाँव में ही रहकर सब कुछ दिखाने और शहरों को सुनाने की टेक्नीक मजलिसों के माध्यम से साकार हो पाई है ।

'जिन्दगीनामा' ढाँचे के स्तर पर आँचलिक उपन्यासों के ढाँचों का भी परित्याग करता है । मैला आँचल भी एक नये प्रयोग के रूप में आया था किन्तु कथासूत्र भी इसमें विद्यमान थे । शुरू से अंत तक की घटनाओं में तालमेल बैठता था । 'जिन्दगीनामा' में कहीं भी कथासूत्र नहीं है । दृश्य आते हैं और मिट जाते हैं, किन्तु ऐसा नहीं है कि वे अपना प्रभाव न छोड़ पाते हों । 'जिन्दगीनामा' के अनेक दृश्य अपना गहरा प्रभाव छोड़ने में सक्षम हैं, चाहे वे लाला वड्डे द्वारा ब्रह्माण्ड की कथा कहे जाने का दृश्य हो या 'त्रिंजण' का, या फिर राबयाँ और शाह जी के एक-दूसरे के प्रति आकर्षण के दृश्य । बहुत कुछ गौण दृश्य आते हैं और मिट जाते हैं ।

---

1. कृष्णा सोबती, सोबती से साक्षात्कार, परिशिष्ट- शोध प्रबंध, पृ.

इस पूरे चित्रात्मक उपन्यास में धीरे-धीरे दो बातें सामने आती हैं - नई पीढ़ी का जमींदारी के प्रति रोष तथा साम्प्रदायिक सद्भाव में आती हुई दरारें । एक बात और साफ़ होती है, देश की आज़ादी के लिए जगह-जगह गदरियों का संगठित होना । "बादशाही पिछली बार बंगाले से आते हुए लाहौर रूका तो जिधर सुनो चर्चा ग़दर वालों की । दीवारों पर ग़दरियों ने इश्तहार लगाए हुए -

तुम्हारा नाम क्या-ग़दर ।
तुम्हारा काम क्या - ग़दर ।
तुम्हारा पेशा क्या - ग़दर ।
तुम्हारा इमान क्या - ग़दर ।"[1]

और उपन्यास का अन्त कुछ इस प्रकार से होता है - "गंडा सिंह का ख़्याल कहीं और भटका हुआ .....

होगा अब यह कि ग़दरी और इंकलाबियों ने मिलकर सरकार का झाड़ा-मूत बंद कर देने हैं । भावें टोंबू लिखवा लो शाह जी, हुकूमत का पटटा देशी रियाया के हाथों में पहुंचकर रहेगा । एक बार तख़्त-ताज़ से हौली हुई सरकार, फिर ख़ाकत अपनी नहीं रूकती । नारा एक ही बुलंद हो के रहेगा - आवाज़े-ख़ल्क को आवाज़े-ख़ुदा समझो ।"[2]

---

1. कृष्णा सोबती, ज़िन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, तृतीय सं., पृ. 347
2. - वही - पृ.

'ज़िन्दगीनामा' का सीमांत प्रांत मजलिसों की गप्पबाजी में भी ऐतिहासिक तथा समसामयिक हलचलों से अनभिज्ञ नहीं है । जाहिर है इतिहास की गहरी छानबीन करने के बाद ही इन घटनाओं का इतना जीवंत संयोजन लेखिका ने मजलिसों के माध्यम से किया होगा । "उपन्यास के प्रारंभिक ढाँचे और शिल्प में काफी परिवर्तन हो चुके हैं - उसकी पड़ताल पद्धति को भी बदलना ज़रूरी होगा । अप्रासंगिक न होगा यह दोहरा देना कि उपन्यास को आँचलिक पुकारने के आग्रह के बावजूद 'ज़िन्दगीनामा' पंजाब के किसी अँचल विशेष का वृतांत नहीं । यह उस अविभाजित सीमा प्रदेश की प्रस्तुती है जिसकी भाषाई पहचान अपने पूरे खुरदुरेपन तथा अलिखित टैक्सचर में निहित थी, जज़्ब थी .... ।"[1]

यह उपन्यास आँचलिकता के गुण अपने में समाये हुए तो है किंतु मात्र आँचलिक नहीं है उससे कहीं ज़्यादा आगे जाता है ।

हिन्दी में अब तक जितने भी वृहद आकार के उपन्यास आए हैं उनमें से कोई भी इस तरह से जिन्दगी के खण्डों का संग्रह नहीं था । इसलिए पहली नज़र में हिन्दी उपन्यास के पाठक को यह उपन्यास क्रमहीन और बेतरतीब टुकड़ों का संग्रह जान पड़ता है । अपनी समग्रता में 'ज़िन्दगीनामा' सम्पूर्ण जीवन का, काल-खण्ड के जीवन का फ़ैलाव है । इस जीवन में गति भी

---

1. कृष्णा सोबती, सोबती से साक्षात्कार, परिशिष्ट-शोध प्रबंध, पृ. ।

है, पर किसी पहाड़ी नाले की शोर मचाती, उफनती धारा सी नहीं, मैदानी नदी की गति सी । जो ऊपर से तो थमी-थमी सी लगती है , किन्तु नीचे उसमें प्रवाह है । और फिर "जिन्दगी की गति का, आचार-व्यवहार और संस्कृति का, हमेशा एक निश्चित क्रम हो, यह कतई ज़रूरी नहीं । लेकिन जब बेतरतीब ज़िन्दगी के फैलाव सी किन्हीं विशेष घटनाओं का चुनाव एक विशेष दृष्टिकोण से करता है तो वह मूल दृष्टि ही उन मूल प्रसंगों को संयोजित करती है । इससे भिन्न एक दृष्टि वह होती है जो क्रमिक विकास - विस्तार या अन्विति साधने की बजाए जीवन की समग्रता, या बहाव को समेट कर, प्रामाणिक चित्र खड़े कर देती है । 'ज़िन्दगीनामा' एकदम सही है । इसीलिए पाठकों ने उसमें कथा-प्रवाह का अभाव लेकिन जीवन-प्रवाह पूरी लहर-बहर के साथ देखा है ।"[1]

'ज़िन्दगीनामा' लिखते हुए कृष्णा सोबती के अन्दर के लेखक को भी मालूम नहीं था कि 'ज़िन्दगीनामा' का ढाँचा इस प्रकार का बनेगा । या लेखक के मन में कोई पूर्व निर्धारित योजना नहीं थी, इसके स्वरूप को, ढाँचे को लेकर । वे पहले से तय करके नहीं चलीं कि उन्हें क्या लिखना है । 'ज़िन्दगीनामा' का एक टुकड़ा लिखते समय किसी दूसरे टुकड़े की योजना उनके मन में नहीं रहती थी । वह स्वत: ही धीरे-धीरे उनके अन्दर उगता रहा

---

1. निर्मला जैन, हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 1987, पृ. 109

इसीलिए तो है वह -'ज़िन्दाख़्ख'। इतना अवश्य था कि लेखिका को प्रचलित ढाँचे का परित्याग करना था। अगर ऐसा न होता तो बहुत पहले ही 'चन्ना' के रूप में ही वह प्रकाशित हो गया होता। जाहिर है कि इस तरह के उपन्यास को प्रचलित ढाँचे में सामने लाना एक सामान्य घटना रही होती। लेखिका स्वयं इससे संतुष्ट नहीं थी। कतिपय वर्षों बाद उपन्यास की वह योजना 'ज़िन्दगीनामा' के रूप में सामने आयी।

इस प्रकार प्रचलित ढाँचे का परित्याग कोई योजनाबद्ध घटना नहीं है।यह तो प्रचलित ढाँचे के अनुरूप भी लिखा जा चुका था, किन्तु फिर भी कुछ ऐसा था जो उस ढाँचे की सीमित परिधि में समा नहीं पा रहा था। इस प्रकार प्रचलित ढाँचे की सीमटी हुई सीमाओं की प्रतिक्रिया में यह खुला रूपबंध सामने आया। यह ढाँचा सामने आया और पूरी सार्थकता के साथ सामने आया। उपन्यास होने का तात्पर्य यह नहीं कि वह चले आ रहे ढाँचे में ही सिमटा रहे। 'ज़िन्दगीनामा' का ढाँचा उसके कथ्य तथा भाषा के अनुरूप है।जहाँ एक ओर यह ढाँचा जिन्दगीनामा को उत्कृष्ट रचना बनाता है वहीं दूसरी ओर उपन्यास की सीमाओं को तोड़ता हुआ नई दिशाओं का मार्ग भी प्रशस्त करता है।

- x - x -

तृतीय अध्याय

जिन्दगीनामा बोध और कथ्य का शिल्प

1. लोक परम्परा का विस्तार
2. भाषा की रंगत
3. आस्वाद के धरातल पर

(क) भाषागत समस्या

(ख) आख्यानपरक ढाँचे के न होने की समस्या

4. नए शिल्प की खटपटाहट

'ज़िन्दगीनामा' : बोध और कथन का शिल्प

1. लोक परम्परा का विस्तार

मानव समाज में कथा सुनने-सुनाने का क्रम उतना ही प्राचीन रहा है, जितना कि स्वयं मानव समाज । कुछ जानने तथा सुनाने की प्रवृत्ति मानव में प्रारंभ से ही विद्यमान रही है । मनुष्य कुछ भी ऐसी बात जानने का इच्छुक होता है जो वह नहीं जानता, दूसरी ओर अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति भी उसमें विद्यमान रहती है । यहीं से कथा कहने और सुनने की प्रवृत्ति ने जन्म लिया होगा । इसीलिए जहां मानव समाज में कभी भी सच्ची घटनाएं या कल्पित कहानियां सुनने वालों की कमी नहीं रही, वहां सुनाने वालों की भी कमी नहीं रही ।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में उपनिषदों, पुराणों से लेकर महाकाव्यों तक में कथा कहने की परम्परा बहुत पुरानी है । इन कहानियों को, कथाओं को पढ़ने सुनने की परम्परा भी उतनी ही पुरानी है । 'बृहत कथा' या 'कथा-सरित सागर' की कथाएं अत्यन्त लोकप्रिय हुईं । इनका प्रचार और प्रसार सारे संसार में हो गया और परवर्ती काल में इन कथाओं के आधार पर अनेक देशों में अनेक कहानियाँ लिखी गईं । 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' जैसी विश्वविश्रुत रचनाओं पर भी 'कथा सरितसागर' की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है । यों तो 'कथा सरितसागर' में भी नीति संबंधी शिक्षाओं की कमी नहीं है, किन्तु पंचतंत्रकार ने अपनी कहानियों

को जिस प्रकार नीति संबंधी श्लोकों में गूंथ-गूंथ कर उन्हें पूर्णतया राजनीति-शास्त्र का रूप दे दिया है । उसका 'कथा-सरित्सागर' में अभाव है । 'कथा सरित्सागर' की कहानियाँ मुख्य रूप से लोकानंद के लिए ही लिखी गई हैं ।"[1]

इस तरह की कथाओं का आख्यान गाँवों की चौपाल पर होता चला आया है । ऐसी चौपालें या मजलिसें हर गाँव में बच्चों-बूढ़ों के संग गुंजान होती रही हैं । 'ज़िन्दगीनामा' में वर्णित घटनाएं, इतिहास होते हुए भी पौराणिक-मिथकीय शैली में वर्णित हैं, जो वृतांत को अत्यन्त सजीव एवं रोचक बना देती हैं । लंबी कविता के तुरंत बाद उपन्यास का आरंभ शरद-पुण्य की रात में भाई-बहन की चुहल से होता है । यहां प्रसाद खाने के बाद बड्डे लाला जी युगों की कहानी सुनाते हैं, मनुष्य और देवताओं की कहानी सुनाते हैं । इस कहानी सुनाने के माहौल से नेपथ्य में उस पंजाब का जिक्र उभरता है जहाँ सारा गाँव इकट्ठा होकर बड़ों से कथाएँ सुनता था । "इस उपन्यास का प्रारंभ जो मिथकीय या पौराणिक गाथाओं से किया गया है, वह सुतंगत और लेखिका की रचनात्मक दृष्टि का परिचायक है । पहले ही पृथ्वी, सूरज, काल, जगह, मृत्यु की मानवीकृत गाथाएँ बच्चों को सुनाई गई हैं । इसे चाहे मंगलाचारण समझिए, चाहे कथावस्तु का निर्देश, सचाई यह

---

1. सं प्रो. विराज, यथार्थ और कल्पना, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृ. 7

है कि 'ज़िन्दगीनामा' की सारी घटनाएं, सारा व्यापार इसी पौराणिक या मिथकीय शैली में वर्णित हैं । चौपाल पर कही गई घटनाएँ, वे चाहे ऐतिहासिक किंवदन्तियाँ हों या वर्तमान-कालिक वारदातें, चाहे गाँधी, लाला लाजपतराय, इकबाल, बंगाली इंकालाबियों या कनाडा के जहाज़ियों की बगावत हो - सब मिथक या पौराणिक गाथाओं की भांति वर्णित हैं ।"[1] लोक परम्परा का यह विस्तार 'ज़िन्दगीनामा' को अलग महत्त्व की प्रामाणिक रचना का दर्जा प्रदान करता है ।

उपन्यास में कोई कथासूत्र नहीं है, केवल ज़िन्दगी है और गाँव है, और यदि शहर है भी तो मात्र गप्पों और मजलिसों के माध्यम से सामने आता है । ऐसे में चौपालों पर बैठकर कथाएं या घटनाएं सुनाने की यह पद्धति पाठक को बाँधे रखती है । बार-बार ऐसा लगता है मानों पाठक स्वयं ही चौपाल में बैठा उसका आनन्द उठा रहा हो । पारम्परिक शैली में बंधे होने के बावजूद यह दृश्य यथार्थ का बहुत क़रीब से साक्षात्कार कराते हैं । इन मजलिसों में ठहाका लगने पर 'मँजियाँ' हिलती हैं । जवानी के जोश में गबरू जवान कोई ऐसी बात कह जाएँ जो बड़े-बूढ़ों को अपेक्षित न हो तो हुक्के गुड़गुड़ाने लगते हैं तथा खुश्क गलों की खाँसियाँ छिड़ जाती हैं । चौपालों तथा मजलिसों का कोई पहलू ऐसा नहीं है जिसे लेखिका ने न छुआ हो । नितान्त जीवंत और

---

1. विश्वनाथ त्रिपाठी, बिम्ब का रोमांच आख्यान, आजकल, जनवरी 1980, पृ. ३२

वास्तविक चित्रण । यह प्राचीन पारम्परिक शैली का प्रयोग करने से ही संभव हो पाया है । "रूप की दृष्टि से यह कृति विशिष्ट है । अगर इसे उपन्यास समझें तो इसमें साहसपूर्वक प्रयोग किया गया है, रोमांच आख्यानों की शैली का । रोमांच आख्यानों में शैली की एकरूपता का का प्रयत्न कम होता था, कथा कहते जाने की - प्रकथनात्मकता या नरेशन की प्रवृत्ति ज़्यादा होती थी । उसमें कथावस्तु किसी एक उद्देश्य की ओर उन्मुख नहीं होती थी । बस किसी पात्र के जीवन अनुभवों को संकलित करते जाते थे । मध्यकाल के अपभ्रंश काव्य और 'दशकुमार चरित' इसी प्रकार के हैं । ..... जो वारदातें देश में होती हैं, उसे वह गाँव किस तरह अपनी किंवदंतियों में अपनी चेतना में रूपान्तरित करके रचाता बसाता है, यह देखने की बात है ।"[1]

इतनी सारी घटनाओं तथा प्रसंगों को गाँव में ही समेटने के लिए इस कथा परम्परा का विकास किया गया जान पड़ता है । गाँव के लोगों के लिए - जो चौपालों में जुटे रहते हैं - सत्य और तथ्य, असत्य, किवदंतियां तथा इतिहास विशेष अंतर नहीं रखते वह सब एकाकार होकर भाव जगत का सत्य बन जाते हैं । जटिल ऐतिहासिक घटनाओं को मिथक में प्रस्तुत करने की योजना गाँव की सहजता को उभारती है, प्रामाणिक स्वीकृति देती है ।

---

1. विश्वनाथ त्रिपाठी, बिम्ब का रोमांच आख्यान, आजकल, जनवरी 1980, पृ. 33

भाषा की रंगत

किसी भी क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा या बोली उस स्थान की संस्कृति या लोक-जीवन को संजाये रहती है, उसे प्रतिबिम्बित करती है । और किसी अँचल में बोली जाने वाली बोली जो व्याकरणिक बंधनों से मुक्त होती है - उस अँचल की ज़िन्दगी के हर पहलू को जानने का जीवंत माध्यम होती है । ऐसी भाषा को माध्यम बनाकर लिखा जाने वाला उपन्यास निश्चित रूप से उस क्षेत्र के जनमानस का, सभ्यता संस्कृति का तथा उस कालखण्ड का - जिसमें वह लिखा गया है - प्रतिध्वनित करता है । ऐसी भाषा उस हृदय समान अँचल की धड़कन होती है । "भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम तो होती ही है, जीने का तौर-तरीका, आचार-व्यवहार की पहचान भी होती है । लेखक के रचनात्मक व्यक्तित्व और उसकी वस्तु के बीच स्थापित संबंध की प्रकृति और प्रक्रिया की पहचान का एक बहुत महत्वपूर्ण और नाजुक अस्त्र उसकी भाषा होती है ।"[1]

और फिर अगर ऐसी ही भाषा में कृष्णा सोबती 'ज़िन्दगीनामा' लिखें तो भाषा की रंगत पाठक पर गाढ़ा असर करती है । इसी भाषा के माध्यम से वाचिक शब्द की ताकत को प्रकट करने वाला यह उपन्यास पर्याप्त चर्चा में रहने के साथ-साथ विवादों के घेरे में भी घिरा रहा है । ज़िन्दगीनामा से पहले भी कृष्णा सोबती अपने अधिकांश कथा साहित्य में भाषा के पंजाबीपन तथा काव्यात्मकता को लेकर जानी जाती रही हैं,

---

1. निर्मला जैन, हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस प्र. सं. 1987, पृ. 111

पर 'ज़िन्दगीनामा' तो पंजाबी रंग में परे का परा रंग सा गया है । "उपन्यास के संवादों और भाषा शैली पर जिला गुजरात के सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव है । संवादों में भी पंजाबी भाषा का रंग देखा जा सकता है ।"[1]

जिन्दगीनामा पंजाब के गुजरात जिले के डेरा जट्ट गाँव के परिवेश को जिन्दा करता है । लेखिका की वर्णन शैली का पंजाबीपुट तथा ठेठ पंजाबी शब्दों को प्रतिध्वनित करते संवाद, मानो भाषा के रंग में भीगकर पाठक को भी सराबोर कर देते हैं । उपन्यास में पंजाब, साठ-सत्तर वर्ष के पहले का पंजाब मानो जिन्दा हो उठा हो, साकार-आकार हो उठा हो । तीज-त्यौहारों पर हर शुभ अवसर पर या फिर माँके-बेमोके गाँव के लहलहाते खेतों से उठती बुल्लेशाह और वारिशशाह की हीर की तानें तथा चौपाल की बैठकों में चलने वाले किस्से – भाषा का जादू पाठक को बाँध सा लेता है । अलग-अलग खण्डों में जिन्दगी को जीते हुए, फैलते हुए 'जिन्दा रुख' में भाषा की जीवंतता महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है । लेखिका द्वारा किया गया शब्दों का चुनाव तथा मुहावरेदानी, मानों एक-एक शब्द कड़ी मेहनत से चुन-चुन कर, तराश-तराश कर रखा गया हो । "हर शब्द का एक जिस्म, एक रूह, एक पोषाक होती है । शब्द चुना गारा या ईंट नहीं है कि जिन्हें आप

---

1. चमनलाल, प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास, हरियाणा साहित्य अकादमी प्रकाशन प्रथम संस्करण, 19888, पृ. 106

चुनते जाएं और इमारत उठती जाए । किसी भी अच्छे लेखक के शब्दों से सरसरी संबंध नहीं होते । उनकी ध्वनि तथा अर्थ को वहन करने की क्षमता, बारीकी और भाषामयी मांसलता, सब रंगों में वह उसे आत्मसात् करता है । उनके अंदर की परख और आत्मा से जुड़े अर्थों की जीवंत धड़कन को समान रूप से प्यार करता है ।"[1]

जब रचना के अन्य पक्षों के साथ-साथ भाषा तथा शैली को संवारने में लेखकीय उद्यम पूरी ईमानदारी के साथ होता है तो रचना की उत्कृष्टता पाठक को अपील करती ही करती है, फिर चाहे वह उसमें कुछ कमियां भी ढूंढ निकाले । जिन्दगीनामा में भी भाषा की रंगत कुछ ऐसी ही है । इस अनूठे उपन्यास के भाषागत वैशिष्ट्य का विस्तृत निरूपण आवश्यक है ।

1. सीमांत प्रदेश का सौन्दर्य

जिन्दगीनामा एक आँचलिक उपन्यास है या नहीं इस बारे में अनेक मत हो सकते हैं । सीमांत गाँव की मुख्य विशेषताओं - स्थानीय रंग और स्थानीय भाषा को सहेज कर चलने वाला यह उपन्यास स्थानीय रंगत को तो अपने में समाये हुए है ही, इसमें भाषा के प्रयोग भी ध्वनियों

---

1. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. 1989, पृ. 374

की बुनावट वाले संसार तथा वाक्य-विन्यास की नवीनता जैसी एकाधिक दृष्टियों से हुए हैं । भाषा के सौन्दर्य के माध्यम से सीमांत प्रदेश का सौन्दर्य निखर-निखर आया है । फिर वह चाहे राबयाँ का सौन्दर्य हो, या सूबा पंजाब में ज़िला गुजरात के डेरा जट्ट गाँव का । गाँव की मजलिस में चौधरी मौलादाद कहते हैं - "रब्ब आपका भला करे, अपने इलाके का तुर्रा और तंबा कोस-दो कोस से ही नज़र आने लगता है । डेरा जट्ट का पानी ही ऐसा - काठी जबर और पहनना-ओढ़ना मोटा ।"[1] दूसरी ओर अराइयों की राबयाँ का सौन्दर्य वर्णन भी द्रष्टव्य है - "अराइयों की धियों को रूप ऐसा कि देख-देख तिरस मिटे जी की ।" "सच कहती हो चाची । छोटी राबयाँ को बुद्धि तो ऐसी कि चान्नन ही चान्नन हो । नजर न लगे लड़की को, मुखड़ा निरा फुल्ल गुलाब ।" "धन्य है जन्मने वाल माँ । हस्सां अराइयों की ने ज्यों धुर पहाड़ो के सुथरे हवा पानी से लड़कियों के वजूद बना डाले । हस्सां क्या कम सोहणी थी । किस्म । कहते हैं न जान-प्राण बन्दे को रब्ब देता है और रंग-रूप माँ और बब्ब देता है ।"[2]

पंजाबी पुरूष भी मरदानगी में किसी से कम नहीं है -"मेहनत मस्तानड़ों के जुट्ट के जुट्ट शाहों के घर आन पहुँचे तो सजरी लिपाई

---

1. कृष्णा सोबती, जिन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, पृ. 136
2. - वही - 73

वाला आँगन लश-लश करने लगा । हाथ-पाँव वाले मर्द जनों के वजूद ऐसे चमकें - लिशकें ज्यों कुम्हार के तपे बरतन ।"[1]

प्रस्तुत उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'ज़िन्दगीनामा' के सीमांत प्रदेश का सौन्दर्य विभिन्न भाषिक स्तरों पर अपना साभिप्राय प्रस्तुत करने में सफल रहा है ।

2. प्रकृति और प्रकृतिमय जन संस्कृति

जिन्दगीनामा में झेलम और चिनाव के बीच में बिखरी हुई जन-संस्कृति से प्रकृति का गहरा रिश्ता देखने को मिलता है । प्राकृतिक वातावरण के अनुरूप ही स्त्री-पुरुष भी ढले हुए जान पड़ते हैं । प्रकृति यहाँ ज़िन्दगी से जुड़ी हुई है, और ज़िन्दगी तथा प्रकृति के अटूट संबंध को प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित करने का काम किया है भाषा ने । भाषा का एक रंग यह भी - "आलमगढ़ियों की यह धी जितनी ऊपर उतनी अंदर । माँ शाहनी की ऐसी कि निरी नरम छाल और पिता ऐसा कड़ा कठोर कि पीडा पक्का तना हो किसी पुराने बाढ़ का ।"[2]

---

1. कृष्णा सोबती, जिन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, पृ. 84
2. - वही - 28

"पीले उभी आस्मों पर माँ-बेटे ऐसे बिराजे ज्यों धरती ने अपनी गोद में गगन का चाँद लिटा लिया हो ।"[1]

"आओ शाहनी, आओ । खैरों से आज तजरी धूप बनकर आप आ पहुंची।"[2]

प्रकृति के प्रतीकात्मक प्रयोग में कथाकार ने कलात्मक उत्कृष्टता की ऊँचाईयों को छू लिया है । वर्जित प्रसंग का कैसा प्रकृतिकरण करके उसे सहज रूप में प्रस्तुत किया गया है, द्रष्टव्य है - "दफा हो री । प्यार-मुहब्बत न हुए कि ज़मीन की वाही-वाही हो गई ।" हबीबा खिल-खिला हँसने लगी - "वत्तर लगा, हल चला । जमीन वाही गई । पट्ट फिरा पोली ज़मीन बीज पड़ा ..... ।" नूरी ने हबीबा का लहकता - ठुमकता परांदा घुमा दिया - "क्यों री क्या पड़ गया तेरी क्यारी में ।"[3]

नारी सौन्दर्य भी प्रकृति के साथ किस तरह जुड़ा हो सकता है । राबयों की कोमलता के प्रसंग में देखा जा सकता है । "इन-अराइयों को रब की देन । कोमल-कूली साग-सब्जी उगाते-उगाते अन्दर-बाहर भी हरियाला उग आता है ।"[4] पंजाबी जट्ट की तस्वीर मात्र एक पंक्ति पढ़ लेने

---

1. कृष्णा सोबती, जिन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, तृ. सं., पृ. 134
2. - वही - पृ. 42
3. - वही - 192
4. - वही - 308

से साकार हो जाती है - "मोटे-गाढ़े तबे और गलों के नीचे फैली बालों की क्यारियाँ ।"[1] शाहों की विशेषता देखिए - "शाहों की हड्डी में कुड़ियों की पौध-पनीरी ।"[2]

कृष्णा सोबती ने जहाँ प्रकृति के साथ मनुष्य को जोड़ा है वहीं मनुष्य के साथ भी प्रकृति का सामंजस्य स्थापित किया है । यानि मानव का प्रकृतिकरण और प्रकृति का मानवीकरण, दोनों ही दिशाओं में भाषा अपने रंग बिखेरती हुई नज़र आती है । "सावन की जल-बिम्बियाँ यह आ और वह जा । फुंकारे मारते पनीले मींह ऐसे घिर-घिर आए ज्यों गाज़ी मर्दों के लश्कर । बादल गरजें - कड़कें कड़ाकों से मानों फौजों की टुकड़ियाँ । बिजली लप्प-लप्प चमके ज्यों तलवारें । चमाचम्म । झमाझम्म ।"[3] प्रकृति के साथ इतना नज़दीकी रिश्ता कायम करना लेखिका की निजी विशेषता है जो उसे परम्परागत लेखन से अलग करती है तथा भाषा के एक नए रंग से पाठकों को परिचित करवाती है ।

वाचिक शब्द तथा लिखित शब्द में निश्चित ही अंतर होता है । 'ज़िन्दगीनामा' वाचिक शब्द की ताकत को लेकर उपस्थित हुआ है किन्तु उसमें लिखित शब्द का तदयुगीन रूप भी कम आकर्षित नहीं करता ।

---

1. कृष्णा सोबती, जिन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, तृ. सं. पृ. 84
2. - वही - 132
3. - वही - 102

तुफैल सिंह द्वारा कलकत्ता से अपने बेटे नसीब सिंह को लिखी चिट्ठी के माध्यम सचमुच ही वह कालखण्ड जिन्दा हो उठता है, जिसमें वह पत्र लिखा गया है - यथा -

"कलकत्ता
तारीख़ छब्बीस, चैत्र ।

चिट्ठी मिले बरख़ुरदार नसीब सिंह को उसके बाबे तुफैल सिंह की । पुत्र प्यारे नसीब सिंह बाबा आपका वाह गुरू की कृपा से ख़ैरियत से हैं । आपां पटनासाहिब से पहुंचे कलकत्ता नौ रात्रों में । रब्ब की मेहर से हाट-व्यापार चंगा रहा । खट्टी कमाई भी वाह-वाह हुई । पर पुत्तर जी, शहर कलकत्ता में गदर मच गया है । हिन्दु-मुसलमान में रंजिश यहां तक बढ़ी है कि एक फिरका हाकमों के हाथों माल-मत्ता खाए । दूसरा लाठियों-गोलियों की बौछारें । माल स्वदेशी की गल्ल-बात तो अंग्रेज़ को छिड़ने का बहाना है । असल ख़ुद की जड़ बंगाले का बटवारा है । बंगालियों को इसकी डाढी पीड़ है । ..... पुत्र नसीब सिंह, अपनी भूरी गाय के लिए एक बड़ी सोहणी खड़केदार टल्ली ख़रीदी है । हठीली भूरी चलेगी तो इन्द्र सुनेगा । सुनकर तेरा भी जी राजी होगा । मजलिस को बताना, गदर नादिर-गर्दी से डर कर कलकत्ते का बड़ा हाकम इस्तीफा दे गया है ।

आपका बाबा
तुफैल सिंह "।

।. कृष्णा सोबती, जिन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, तृ. सं. पृ. 206-07

लेखिका ने प्रचलित भाषा में मुहावरों ठप्पों का प्रयोग किया है । मुहावरों का प्रयोग बड़ा ही सटीक है जो संवादों को प्रभावी तथा सम्प्रेषणीय बनाने में सहायक हुआ है । माँ-बीबी, अदालत को अपने बालिग होने के संबंध में बताते हुए कहती है - "अदालत समझे कि ना मैं खेलूँ गुड्डियाँ और ना मैं न सौहलवें साल ।"[1]
शाहों के बारे में कहा जाता है - "लोगों का तेल नहीं जलता, शाहों का मूत्र जलता है ।"[2] मुहावरा स्पष्ट रूप से शाहों का वर्चस्व तथा लोगों की उन पर निर्भरता को दर्शाता है । एक प्रसंग में बहू, सास को चुनौती देती हुई कहती है - सुन ले फूफी, जो तुमने अपनी टेव न छोड़ी तो मैं भी असल की नहीं अगर अपनी झुग्गी अलग न कर लूँ । आख्यान करती हो न कि गंजी नहाएगी क्या और निचोड़ेगी क्या । वही होकर रहेगा ।"[3] झूठी गवाहियाँ देने वालों के संबंध में शाह साहब का कहना है - "इनका हिसाब अशमत्तर और तुश मत्तर वाला है ।" इसीप्रकार से तीन सौ पच्चहत्तर पृ. के इस उपन्यास में मुहावरों तथा तुकबंदियों का प्रयोग परिवेश को प्रामाणिक तथा सार्थक बनाता है ।

गाँव में दी जाने वाली गालियों का स्वाभाविक प्रयोग किया गया है । बोलचाल की भाषा में आम तौर पर दिए जाने वाली गालियाँ

---

1. कृष्णा सोबती, जिन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, तृ. सं., पृ. 49
2. - वही - 88
3. - वही - 114

पात्रों के चरित्र को पहचान देती हैं । थानेदार की कड़क गालियाँ, अन्य पात्रों द्वारा अपनेपन में दी गई गालियाँ तथा एक दूसरे की टाँग खींचने के लिए प्रयोग की गई गालियाँ - गालियाँ - कहीं भी अटपटी थोपी हुई, भद्दी या अश्लील नहीं जान पड़तीं । यह लेखिका की बोलचाल की ज़ुबान को उसके बच्चेपन में पकड़ लेने का फन है । उदाहरणत:

1. "मोयहब्यों, गैर कानूनी हरकतों से बाज नहीं आते ।
2. शरीफू ने और लगाया-" क्या अच्छी थी ! चूतड़ का नाम ले बंदे को चूतड़ नजर न आए तो थूक मिरासी की तालीम पर।"
3. गींडे ने पीछे से आकर बोद्दे को गलबाँही दे दी-" क्या बात की है फुद्दी योहन ! जो हाथ तले, वह अपनी !"[1] यह लोकभाषा में प्रचलित है।

स्थानीय भाषा का हर रंग इस उपन्यास में देखने को मिलता है । 'त्रिंजन' तथा 'लोहड़ी' जैसे त्यौहारों पर गाए जाने वाले गीत तथा बच्चों की स्वाभाविक तुकबंदियाँ पाठक के मन में बचपन की उमंग जगा देती हैं । शब्द चयन, वाक्य-विन्यास, वारिसशाह-बुल्लेशाह की 'हीरें' और सगुन पर गायी जाने वाली 'घोड़ी' हर एक चीज़ इतनी स्वाभाविक और सुगठित कि कहीं लगता ही नहीं यह सब कितने महीन श्रम से सामने आया होगा । जिन्दगी अपनी स्वाभाविक लय में चलती रहती है । यह भाषा की जीवंतता ही है कि बेतरतीब खण्डों में फैला 'ज़िन्दगीनामा' कहीं भी उकताहट पैदा नहीं करता, बशर्ते कि पाठक बार-बार दोहराए गए कुछ ठेठ पंजाबी शब्दों से पहचान स्थापित कर ले ।

---

1. कृष्णा सोबती- जिंदगीनामा, राजकमल प्रकाशन, पृ0 56,178,179

यहाँ उपन्यास का आरंभ हिन्दी की लंबी कविता से करने का अपना अलग महत्त्व है । 'ज़िन्दगीनामा' में कोई भूमिका नहीं है, बल्कि भूमिका की जगह कविता है । यह लंबी कविता पंजाब तथा उपन्यास के परिवेश से पाठक का परिचय पूरी संवेदना के साथ कराती है । लेखिका के ही शब्दों में - "यह टुकड़ा मुझे मेरे परिवेश के प्रति आश्वस्त करवाता है और व्यापक तनावों के प्रति तटस्थ ।"[1] कविता से उपन्यास का प्रारंभ ही उपन्यास की भाषा की रंगत का आभास दिला देता है । "उपन्यास का रंग तो भूमिका के रूप में लिखी भावनात्मक कविता से ही बंध जाता है, जिसमें पंजाब की भौगोलिक और सांस्कृतिक ख़ूबसूरती को बिम्बों में बांधने की कोशिश की गई है ।"[2] अभी तक तो जिन्दगीनामा का पहला ही भाग -ज़िन्दाख़्ख सामने आया है पर जान पड़ता है कि कविता लिखने के समय लेखिका के मन में दोनों ही खण्डों का प्रारूप सामने रहा होगा । द्रष्टव्य है -

चढ़ाइयाँ
बहुत बार हुईं
बहुत बार हमलावरों के सामने
बहुत बार राजपाट बदले
पर चौड़े सीने वालों ने

---

1. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं., पृ. 379
2. चमनलाल, प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास, हरियाणा साहित्य अकादमी प्रकाशन, पृ. 147

कड़े जिगरे वालों ने
कभी हौसले नहीं गँवाए
मरने और मारने से
ख़ौफ नहीं खाए
पर आज ? .....
क्या सूरमाओं के सिक्के बदल गए
बाज़ूओं के हथियार लटक गए ।
कंधे थक गए
एक आवाज़ पर
उठ खड़े होने वालों की
शोख-गुस्ताख़ लहरें गुस्से की
कहाँ गुम हो गईं । [1]

सूरमाओं की धरतीभरे पंजाब से पाठक का वास्ता 'जिंदा-रूख' में होता है । किन्तु सूरमाओं के सिक्के बदल जाने वाले प्रसंग से वास्ता संभवतः उपन्यास के दूसरे भाग में होगा, जिसमें देश विभाजन या साम्प्रदायिक दंगों को लेकर एकदम बदला हुआ परिवेश देखने को मिलेगा । कविता का यह टुकड़ा तथा उपन्यास के पहले भाग का अंत तो यही दर्शाता है । लंबी कविता, लंबी भूमिका की अपेक्षा ज़्यादा सटीक ढंग से भाव - सम्प्रेषण कर पाई है, ज़्यादा असरदार ढंग से अपनी बात कह पाई है ।

---

1. कृष्णा सोबती, जिन्दगीनामा, राजकमल प्रकाशन, तृ. सं., पृ. 13

३. आस्वाद के धरातल

आस्वाद के धरातल पर भाषा के पंजाबीपन तथा प्रचलित आख्यान-परक ढाँचे के न होने के कारण 'ज़िन्दगीनामा' पर्याप्त विवाद में रहा है । उपन्यास में लेखिका का पंजाब के गाँव की भाषा और प्रकृति से बराबर का रिश्ता रहा है । भाषा की विशिष्टता को सुरक्षित रखने का प्रयास इस हद तक है कि सामान्यत: प्रयोग होने वाला खड़ी बोली हिन्दी का भाषाई ढाँचा नष्टप्राय: हो गया है । इसी कारण बहुत से विद्वानों को उपन्यास की भाषा अपने प्रयास को अतिरंजित करती हुई जान पड़ती है । इससे उपन्यास की सम्प्रेषणीयता बाधित होती हुई जान पड़ती है । ठेठ हिन्दी का पाठक उपन्यास के रसास्वादन से वंचित रह सकता है, अगर वह उपन्यास की भाषा से रिश्ता जोड़ने का अतिरिक्त श्रम न करे । इसलिए पंजाब की जिन्दगी को 'ज़िन्दगीनामा' के साथ जीने के लिए हिन्दी के पाठक को अपने भाषिक दायरे को तोड़ना पड़ता है । "यह इस शताब्दी के आरंभिक पन्द्रह-बीस वर्षों का पंजाब का जीवन है, जिसके साथ पाठक का पहला सामना इस उपन्यास में इसकी भाषा द्वारा होता है । सामना क्या, दरअसल इसे एक छोटी-मोटी भिड़ंत कहना चाहिए जिसमें अधिक संभावना इस बात की है कि एक ठेठ किस्म का अभ्यस्त हिन्दी पाठक खेत रहे । पहले मुकाबले में सामना पंजाब के जीवन के साथ होने के बजाय पंजाब की भाषा के हिन्दी संस्करण से होता है और अपने अब तक के रचनात्मक अभ्यास को तोड़ने के साथ-साथ

कृष्णा सोबती इस उपन्यास में एक जिम्मेदार पाठक से अपने अब तक के पाठकीय अभ्यास को तोड़ने की मांग करती हैं ।"[1] और उपन्यास तथा उसकी भाषा में निश्चित रूप से उच्च कोटि के साहित्य की वह गरिमा है जो गहरी साहित्यिक समझ रखने वाले पाठक के साथ भाषिक स्तर पर संबंध स्थापित कर लेती है । "मेरा अनुमान है कि भाषा अवरोध के कारण इस कृति में चित्रित जीवन को देखने-पहचानने के लिए अपने-आपको निरन्तर तैयार करते जाएंगे । मैला आँचल पंजाबी-हिन्दी पाठकों को उतना ही दुर्बोध लगता होगा जितना पूर्वी हिन्दी पाठकों को यह कृति । लेकिन जब पश्चिम के लोग मैला आँचल पढ़ सकते हैं तब हम जिन्दगीनामा क्यों नहीं पढ़ सकते ?"[2] वैसे भी किसी कृति की उत्कृष्टता का पैमाना उसकी लोकप्रियता न होकर उसमें निहित उदात्त साहित्यिक तत्त्व होते हैं ।

इसलिए जिन दो प्रमुख तत्त्वों पर जिन्दगीनामा के पठन में अवरोध पैदा होता है, आस्वाद के धरातल पर विरोध पैदा होता है, वे हैं - भाषागत समस्या तथा आख्यानपरक ढाँचे के न होने की समस्या । इन्हीं दो पक्षों पर अलग से विचार करने की आवश्यकता जान पड़ती है । जिन्दगीनामा का महत्त्व इन्हीं दो पहलुओं की सार्थकता पर निर्भर करता है ।

---

1. अर्चना वर्मा, आलोचना, अप्रैल-जून 1980, पृ. 46
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, आजकल, जनवरी 1980, पृ. 34

(क) भाषागत समस्या

जब 'परती परिकथा', 'मैला आँचल' तथा 'ज़िन्दगीनामा' जैसी उत्कृष्ट अँचल को लेकर चलने वाली कृतियाँ सामने आती हैं तो हिन्दी भाषी क्षेत्र के एक बड़े हिस्से के लिए भाषा की समस्या उठ खड़ी होती है । ऐसे में एक वर्ग इस समस्या से जूझने के बजाए इससे छुटकारा पाने की मानसिकता वाला भी होता है । ऐसे पाठक वर्ग के लिए केवल भाषा की विशुद्धता की चिन्ता प्रधान हो जाती है । कथ्य और भाषा के बीच के संबंध की महत्ता को समझने का प्रयत्न वे नहीं करते । जब उपन्यास का कथ्य ही अँचल को लेकर चलने वाला है तो भाषा के ठेठ हिन्दीपने की अपेक्षा करना हास्यास्पद ही कहा जाएगा । "दरअसल कथ्य से विच्छिन्न स्वायत्त रूप में भाषा की विशुद्धता या विकृति की जाँच करना ही बेमानी है । किसी भी रचना में यह प्रश्न कथ्यानुसार, सहज, अनुकूल और प्रवाहमय भाषा का होता है, शब्दस्रोत, व्याकरण सम्मत या विशुद्ध भाषा का नहीं ।"[1]

जहाँ तक पाठक की भाषायी समझ का प्रश्न है, हर पाठक वर्ग का अपना भाषाई संस्कार होताहै । किसी भी उत्कृष्ट, आँचलिक कृति से दो-चार होते समय उसे अपने निजी संस्कार का अतिक्रमण करना पड़ता है । जब हम 'ज़िन्दगीनामा' या 'मैला आँचल' जैसी कृतियों के घटना संसार से गुज़रते हैं तो भाषा की लय में अनेक स्थानीय शब्दों के अर्थ स्वयं ही स्पष्ट होते जाते हैं ।

---

1. निर्मला जैन, हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्र. सं 1987, पृ. 111-12

अनेक शब्दों का प्रयोग इन कृतियों में बार-बार भी होता है, जो एक बार अर्थ स्पष्ट हो जाने पर आगे बाधा उत्पन्न नहीं करता और धीरे-धीरे भाषा की यह समस्या, समस्या रह ही नहीं जाती । पाठक भाषा से पहचान स्थापित करके एक नए रोमाँच भरे अनुभव से गुज़रता है । अवरोध वहीं उत्पन्न होता है जहाँ कोई स्थानीय शब्द बरबस उठाकर रख दिया जाता है । ऐसे स्थानों पर पाठक की तारतम्यता बाधित होती है । "ऐसा शब्द भाषा के बीच विवादी स्वर की तरह अपने को स्वयं प्रकट करता चलता है ।"[1]

जहां तक जिन्दगीनामा का सवाल है, पहले-पहल ग़ैर पंजाबी पाठक को अड़चन महसूस होती है किन्तु - "दूसरी बार के वाचन में आसानी से नोटिस किया जा सकता है कि कुछ बार-बार दोहराए जाने वाले शब्द और मुहावरे हैं, जिनके सहयोग से कृष्णा जी ने यह मुहावरा गढ़ा है । प्रयोगों की पुनरावृत्ति से यह शब्द अपने अभिप्राय का परिचय, कभी-कभी कुछ धुँधला सा पाठक को दे देते हैं ।"[2] इस प्रकार कुछ शब्दों के अर्थ एक बार स्मृति पटल पर बैठ जाने के बाद पाठक के लिए यह रचना रसग्राही हो जाती है । साहित्य के पाठक को जहाँ भी कुछ सारवान मिलेगा वह कई परेशानियाँ उठाकर भी रचना में तल्लीन हो सकता है ।

---

1. निर्मला जैन, हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, ने. प. हा, प्र. सं. 1987, पृ. 112
2. अर्चना वर्मा, आलोचना, अप्रैल-जून 1980, पृ. 47

पंजाबी के ठेठ शब्दों के प्रयोग से जो समस्या सामने आयी है, ग़ैर पंजाबी पाठक के लिए उसका समाधान फुटनोट देकर या फिर उपन्यास के अन्त में पंजाबी के इन शब्दों के अर्थ स्पष्ट करके किया जा सकता था । "भाषा के इस पंजाबी रंग के कारण ही ग़ैर पंजाबी पाठकों को उपन्यास समझने में दिक्कत आई है । पाठकों की यह दिक्कत समझी जा सकती है, क्योंकि उपन्यास में बड़ी मात्रा में पंजाबी शब्दावली का प्रयोग हुआ है, जिसके अर्थ का अनुमान ग़ैर पंजाबी पाठकों को होना मुश्किल है । वड्डा, डोडो, वण्डा, मंजी, मनुक्ख, मसीत, चिदठा, हला, झोटी, सद्दा, पैंडा, कुड़ियों, वैण आदि असंख्य शब्द तो अपने मूल रूप में बिना अर्थ दिए प्रयुक्त किए गए हैं, अनेक पंजाबी गीत भी देवनागरी लिपि में ज्यों के त्यों दिए गए हैं । इस भाषा के प्रयोग से जहां एक ओर वातावरण की प्रामाणिकता बनी है, वहीं सम्प्रेषण की समस्या भी आ खड़ी होती है और सम्प्रेषण पूरी तरह न होने से रसास्वादन में बाधा पड़ती है ।"[1] इस समस्या का एकमात्र समाधान उपन्यास के अंत में कुछ शब्दों के अर्थ देकर तथा लोकगीतों के संदर्भ स्पष्ट करके किया जा सकता था, इससे पाठक अन्य प्रामाणिक-अप्रामाणिक स्रोतों से जानकारी एकत्र करने का जोखिम उठाने से बच जाता तथा उपन्यास का सम्प्रेषण भी पूरी तरह से संभव हो पाता । यशपाल ने 'दिव्या' में तथा राही मासूम रज़ा ने 'आधा गाँव' में इसी टेक्नीक का प्रयोग किया गया है ।

---

1. डा. चमनलाल, प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास, हरियाणा साहित्य अकादमी प्र. प्र. सं. 1987, पृ. 167

उपन्यास में बहुत से उर्दू शब्दों का इस्तेमाल भी हुआ है जो भाषा की पंजाबी रंगत में अलग जायका देता है । स्पष्ट है कि पाठक से उर्दू का सामान्य ज्ञान भी अपेक्षित है - यथा - कत्ता क़लाम माफ़, फारिग, तौफ़ीकों वालों, हस्बे-मामल, हाजत, शौदाई, खनकतें, मुत्म्मात, ख़ाविंद, इमदादी, कुल्फ़ आदि । पर ये शब्द अलग से मतलब जानने की माँग नहीं करते, बल्कि पंजाबी के सहायक शब्दों के साथ ही कथा-प्रवाह में स्पष्ट होते चले जाते हैं ।

'ज़िन्दगीनामा' की भाषा उसके कथ्य की माँग है । उसे वैसी ही जिन्दा भाषा की ज़रूरत थी । "भाषा को गढ़ने-तराशने और मांजने से यानि उसकोप्रायः परिनिष्ठित हिन्दी बना देने से उसके प्राण तत्त्व के बहुत कुछ नष्ट हो जाने की आशंका थी । यह इस उपन्यास को पढ़कर अच्छी तरह से समझा जा सकता है ।"[1] ऐसा करने से उपन्यास के पाठकों का तो दायरा अवश्य बढ़ जाता पर उपन्यास में पंजाबी संस्कृति का जो यथार्थपरक चित्र उपस्थित हो पाया है, लोकजीवन जिस स्वाभाविक भाषा में जिन्दा हो उठा है, वह न हो पाता ।"इस उपन्यास की भाषा में कमाल की ताज़गी है । यह उपन्यास वास्तव में एक गहरी जड़ों वाला विशाल हरा-भरा वृक्ष है, पंजाबी लोक जीवन और पंजाबी मिश्रित हिन्दी भाषा के रस से भरा हुआ ।"[2]

---

1. नवलकिशोर शर्मा, गहरी जड़ों वाला जिन्दारूख, पूर्वग्रह अंक-38, पृ. 20
2. - वही -

(ख) आख्यानपरक ढाँचे के न होने की समस्या

अभी पाठक पंजाबी-हिन्दी के साथ तारतम्य स्थापित कर ही पाया होता है कि उसे परम्परा से हटकर एक और प्रयोग का सामना करना पड़ता है, परम्परागत ढाँचे के न होने के प्रयोग का। हिन्दी उपन्यास में जो परम्परागत औपन्यासिक ढाँचा चला आ रहा था जिन्दगीनामा उसे निर्दयता से तोड़ता है । इसमें न तो कोई केन्द्रीय चरित्र है और न ही ज़िन्दगी के अनुभव-खण्डों में लिखे गए जीवनदृश्यों में आपसी संबंध । लंबी कविता के बाद बच्चों-बड़ों द्वारा इकट्ठे होकर बड्डे लाला के यहाँ कहानी सुनने के दृश्य से उपन्यास आरम्भ होता है । कहानी सुनाने के माहौल से उपन्यास में चित्रित पंजाब का एक चित्र उभरता है । इस तरह के अनेक चित्र उपन्यास में हैं । 'त्रिंजन' और 'लोहड़ी' जैसे त्यौहारों के, चोरों डकैतों की बहादुरी के किस्सों से लेकर गाँव के मदरसे के गुदगुदाने वाले दृश्य हैं । मजलिसों में बैठकर पंजाब की पलटनों से लेकर लाहौर शहर की गुलनारों तक के किस्से छिड़ते हैं । कहीं कोई ऐसा प्रयास नहीं है कि इन दृश्यों को आपस में एकसूत्रता में पिरोना हो । कोई केन्द्रीय चरित्र भी ऐसा नहीं है जो दृश्यों को जोड़ने का काम करता हो । शाहों का वर्णन बीच-बीच में बराबर आता रहता है पर उसमें भी गाँव के अन्य पात्र साथ आ जुड़ते हैं । शाहों को केन्द्र में न लाने का प्रयास सायास किया जान पड़ता है । लेखिका किसी को भी केन्द्र में

लाने से बचना चाहती है । ज़िन्दगी का एक विराट चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । जिसमें जिन्दगी के कई रंग देखने को मिलते हैं । पाठक से पहले का अभ्यास तोड़ना यहां अपेक्षित है क्योंकि कथा-प्रवाह तथा घटनाओं का निश्चित क्रम 'ज़िन्दगीनामा' में नहीं मिलता । "जीवन के साथ साक्षात्कार के संबंध में दूसरी दिक्कत उपन्यास के विधान को लेकर पेश आ सकती है । सैंकड़ों कथा-खण्डों को जोड़ने वाला न कोई केन्द्रीय चरित्र है न घटनासूत्र, जिसे वस्तुतः बड़ी लेखकीय सजगता और कलात्मक संयम के साथ रचना के बाहर रखा गया है । जिस शाह परिवार पर लेखिका की दृष्टि किंचित विस्तार के साथ टिकी हुई है उसे प्रयत्नपूर्वक केन्द्रीय स्थान देने से बचाया गया है । रचना का कार्य इन अनुभव खण्डों को जोड़ने वाले जिस भीतरी संरचनासूत्र में निहित है वह रचना के विवेच्य काल का सामाजिक-ऐतिहासिक प्ररिप्रेक्ष्य है, जिसे यदि न पकड़ा जा सके तो उपन्यास को खण्ड-चित्रों का एक एल्बम समझने की भूल की जा सकती है ।"[1]

वास्तव में 'ज़िन्दगीनामा' स्वाभाविक ज़िन्दगी का धीमा प्रवाह है, उसमें कोई नाट्य घटना नहीं घटती । जो घटनाएं घटती हैं, वे सामूहिक जीवन से संबंधित हैं । दूसरे ये घटनाएं संख्या में इतनी अधिक हैं कि न तो एक घटना का दूसरी घटना से कोई संबंध है, न ही अगली घटना पिछली घटना का परिणाम जान पड़ती है । लेकिन अगर इन घटनाओं तथा पात्रों को

---

1. अर्चना वर्मा, आलोचना अप्रैल 1980, पृ. 47

समग्रता में देखा जाए तो मानवीय जीवन का एक व्यापक लोक उद्घाटित होता है । यहीं पर कुछ विद्वानों को यह अनुभव खण्ड बार-बार दोहराए गए प्रतीत होते हैं । "कृष्णा जी के 'ज़िन्दगीनामा' में इन दो दुनियाओं के प्रसंग इतने जुड़ गए हैं कि वहां पर कोई और दृश्य अपनी छाप नहीं छोड़ पाता । किसानों की बतकटी और औरतों की समारोह प्रियता को कृष्णा जी ने बार-बार प्रस्तुत किया है । किन्तु यह इतना और इतनी बार हुआ है कि अपनी विशेषताओं के बावजूद यह दृश्य बहुत कुछ 'स्टीरियो-टाइप' बन गए हैं ।"[1] यहां पर आलोचक यह भूल जाते हैं कि किसानों की बैठकों की, मजलिसों की योजना करने का प्रयोजन गाँव के भिन्न-भिन्न रंगों को, उसकी सांस्कृतिक-ऐतिहासिक विरासत को प्रस्तुत करने में है । गाँव से जाये बिना इन बैठकों के माध्यम से ही गाँव से बाहर घटने वाली घटनाओं के गाँव पर होने वाले प्रभाव देखे जा सकते हैं । मजलिस में पढ़ी जा रही तुफैल सिंह की चिट्ठी कलकत्ता में हो रहे साम्प्रदायिक दंगों से गाँव को परिचित कराती है । मजलिसें तथा त्यौहार दोहरायी जाने वाली घटनाएं न लगकर ज़िन्दगी का अनन्य हिस्सा लगते हैं । इसलिए इन्हे 'स्टीरियो-टाइप' कहना लेखिका के रचनात्मक श्रम को न पहचान पाना ही है । लेखिका चाहती तो केन्द्रीय चरित्र तथा घटनासूत्र के माध्यम से भी कथा कह सकती थी । उसे इन अनुभव-खण्डों के संयोजन का कठिन रास्ता न चुनना पड़ता । किन्तु उपन्यास की सार्थकता परम्परागत कथात्मक ढाँचे

---

1. सुधीश पचौरी, सं. रामदरश मिश्र, हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष, गिरनार प्रकाशन-बम्बई, पृ. 443

का परित्याग कर एक कथाविहिन ढाँचा गढ़ने में हो है । "ज़िन्दगीनामा" की एक अपनी एक विशिष्ट पहचान है, जो उसे उपन्यास वर्ग में आने वाली तमाम दूसरी रचनाओं से अलग पहचान प्रदान करती है । साँझी-संस्कृति का एक साँझा परिदृश्य, एक लम्बी परम्परा, पंजाब की धरती की माटी की महक, उसमें रची-बसी लोक कथाएँ, जिनके छोर एक ओर पुराणों को छूते हैं और दूसरी ओर विभाजन पूर्व के लोक जीवन को । लेखिका को यह सब कहीं गहरे उद्वेलित करता है । इस साँझी संस्कृति का सम्मोहन आज भी स्मृति में तमाम सूक्ष्म संवेदनों के साथ जीवित है — अपनी सवांगता में । इस अर्थ में वह है इतिहास / जो नहीं है और इतिहास / जो है ।"[1]

वास्तव में उपन्यास अलग-अलग छोटे- बड़े दृश्यों का क्रम है, जिसमें साँझी संस्कृति गाँव है । शाहों के परिवार से अलग भी अनेक विलक्षण दृश्यों का संयोजन किया गया है, जो गाँव को समग्रता प्रदान करता है । फ़ोह और शेरे का इश्क, प्रथम महायुद्ध का गाँव पर प्रभाव - "हर घर से इक बंदा । पुत्तर नहीं तो चन्द्रा" - का बुलन्द होता हुआ नारा, मौलवी साहब के मदरसे का दृश्य, रमजान नाई के लाहौर से गाँव लौटने पर सियालकोट, लाहौर, झेलम तथा गुजरात के चर्चे, डेराजट्ट का गुणगान -- अनेक ऐसी छोटी-बड़ी घटनाएं हैं जो गाँव को हर कोण से देखने का मौका देती हैं, ठेठ ग्रामीण सभ्यता से वास्ता कराती हैं । "अनेक छोटी-छोटी ऐसी कथाएं यहाँ इकट्ठी कर दी गई है, जिनके बिना

---

1. निर्मला जैन, हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्र. सं. 1987, पृ. 108

कथा में कोई रस भंग न होता । लेकिन इन छोटी-छोटी घटनाओं को निकाल दिया जाए तो 'ज़िन्दगीनामा' जिन्दगीनामा न रहकर कुछ और ही हो जाए

गाँव में जो कुछ भी घट सकता है उस सब को लेखिका ने उपन्यास के दृश्य-खण्डों में कैद कर लिया है । लगता ही नहीं कि कहीं कुछ छूट गया है । अपने आप में मुकम्मल गाँव का सांस्कृतिक-ऐतिहासिक घटना चक्र । इस तरह का कथात्मक ढाँचा हिन्दी कथा साहित्य में पहले कहीं नहीं मिलता । 'मैला-आँचल' को भी लें तो उसकी कथा में भी सूत्र हैं । इस दृष्टि से 'ज़िन्दगीनामा' एक साहसिक एवं सार्थक प्रयोग कहा जाएगा ।

'ज़िन्दगीनामा' का जीवन-प्रवाह ही इसमें कथात्मक ढाँचा न होने के बावजूद इसे विराटता प्रदान करता है । इसलिए आख्यान-परक ढाँचा न होना 'ज़िन्दगीनामा' की समस्या नहीं इसकी विशेषता बनकर सामने आया है ।

नए शिल्प की छटपटाहट

किसी भी कथ्य को कृति का रूप देने के लिए लेखक जिस युक्ति का प्रयोग करता है, जिस भाषा को गढ़ता है, वही शिल्प है । कथ्य को प्रस्तुत करने में शिल्प का अपना अलग महत्त्व है । कथ्य तो किसी अनगढ़ पत्थर की तरह

होता है, लेखक शिल्पकार है, कथ्य को आकार देने के लिए संप्रेषण में तीव्रता लाने के लिए वह उपयुक्त शिल्प की तलाश करता है । कथ्य की माँग के अनुरूप ही शिल्प होना चाहिए । शिल्प के लिए साहित्यिक बंधन अपेक्षित नहीं होते । लेखक के सामने असंख्य संभावनाये विद्यमान होती हैं और योग्य लेखक सार्थक शिल्प की तलाश कर ही लेता है ।

'ज़िन्दगीनामा' के कथ्य को लेखिका ने जिस शिल्प में बाँधा है वह शुरू में अपरिचित तथा अटपटा लगने के बावजूद अपना लगने लगता है, सहज और स्वाभाविक लगने लगता है । पंजाब की धरती को, धरतीपुत्रों को, और धरती से जुड़ी ज़िन्दगी को उजागर करने के लिए जिस बारीक समझ और संवेदनशीलता की, जिस हथौड़ी और छैनी की आवश्यकता पड़ती है वह लेखिका के पास मौजूद है । शिल्पकार ने एक ऐसी ज़िन्दगी गढ़ी है जो अनगढ़ दिखने के बावजूद कलाकार का संयम और कौशल समेटे हुए है । कृष्णा जी स्वयं लिखती हैं - "शिल्प और शैली के इन संदर्भों के मुखड़े पारद शीं होते हैं । इनमें कुछ भी लुकता-छिपता नहीं । लेखक अपने पात्र, वातावरण और रचना की हड्डी के अनुरूप वही भाषा गढ़ता है जो वह सिर्फ जानता नहीं, जीता है ।"[1]

---

1. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोहबत, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. 1989, पृ. 374

लेखक जिन शब्दों को लेकर शैली का निर्माण करता है उनसे उसका गहरा सरोकार होता है । कृष्णा सोबती में एक ऐसे शिल्प को जीने की सामने लाने की छटपटाहट थी जो वाचिक शब्द की ताकत को सामने ला सके । हमारे देश का बहुत बड़ा हिस्सा निरक्षर है, जो वाचिक शब्द द्वारा ही स्वयं को व्यक्त करता आया है । इस भाषा की अपनी एक अलग दुनिया है, अलग सत्ता है । इन्हें लोगों से जुड़े कथ्यों को शिल्प में बाँधने के लिए वाचिक शब्द से युक्त शैली का प्रयोग लेखिका ने साहस के साथ किया है । लगता है कि ऐसे ही शिल्प को प्रस्तुत करने की छटपटाहट लेखिका के मन में थी जिसने 'ज़िन्दगीनामा' को आकार दिया है । "कृषक वर्ग की वाक् शैली को स्थापित करना अत्यन्त आवश्यक था । वाक शैली, मुहावरे उस रचना की बुनावट करते हैं जिसकी लेखक को उस समय के लिए आवश्यकता होती है, जिसके साथ वह संबंध रखता है । यहां पश्चिमी पंजाब का कृषक वर्ग था, बेढंगा, पर अगर गहराई से देखा जाए तो उनकी संरचना तथा स्वभाव स्थिर आन्दोलनों तथा विरोधों द्वारा निश्चित हुआ था ।"[1]

1. ["It was imperative to establish the diction of the agrar ian society. Diction, idiom and language are all connected with each-other and together they weave a texture a novelist needs for a period he is dealing with. Here was West Punjab peasantry rustic, rough, down to earth whose very fabric and temperament was conditioned by constant movements and confrontations."

Rama Jha, Indian Literature, July-August, 1981, p.63.]

पंजाब के इस कृषक वर्ग के लिए ऐसे ही अनगढ़ शिल्प की आवश्यकता थी, स्वाभाविक ग्रामीण जीवन को सच्ची अभिव्यक्ति दे सकने वाला शिल्प । एक ऐसा रचनाकार ही इतने सजीव शिल्प का सृजन कर सकता है जो स्वयं व्यक्त जीवन से गहराई से जुड़ा रहा हो, जिसने ऐसा जीवन जीया हो । "जिस भाषा को आप जीते नहीं, जिन शब्दों से आपको लगाव नहीं, सरोकार नहीं, जानकारी मात्र से आप उन्हें सृजन के स्तर पर शैली की बुनावट में नहीं संजो सकते । उन्हें पुचकारकर सजा भले लें । अर्थ और सौन्दर्य के बिना शब्द की नुमाइश भी बेमानी होगी ।"[1] जहाँ भी उपन्यास के संवाद भाषा तथा गद्य शैली के स्तर पर कृत्रिम, गढ़े हुए, जबरदस्ती लाए हुए लगने लगते हैं वहीं वे रचना की प्रामाणिकता को नष्ट कर देते हैं । किन्तु 'ज़िन्दगीनामा' में यदि नए शिल्प के लिए छटपटाहट है तो उसमें सजीवता भी है । 'ज़िन्दगीनामा' का शिल्प खुली भेदस भाषा के संवादों का शिल्प है । संवादों के शिल्प का ऐसा प्रयोग विरले ही देखने को मिलता है । यह एक ऐसा शिल्प है जो पंजाबी की बिलकुल भी जानकारी न रखने वालों को आरम्भ में जटिल और दुरूह लग सकता है किन्तु अपनी गहराई में यह सरल और सुथरा है -- यह गंभीर पाठक शीघ्र ही समझ सकता है ।

- x - x -

---

1. कृष्णा सोबती, सोबती एक सोबत, राजकमल प्रकाशन, प्र. सं. 1989, पृ. 374

निष्कर्ष एवं मूल्यांकन

उपन्यास हिन्दी में लोकप्रिय विधा होने के बावजूद अभी तक अपना स्वरूप तलाशने में लगी हुई है । लगभग सवा सौ वर्षों की इस यात्रा में हिन्दी उपन्यास ने अनेक पड़ाव पार किए तथा अपने अनेक रूपों से पाठक का साक्षात्कार कराया । उपन्यास चाहे यथार्थवादी ढाँचे में लिखा गया हो, आँचलिक ढाँचे में या फिर कतई नए प्रयोगात्मक ढाँचे में -- वह हर जगह यथार्थ से जुड़ा रहा है । जीवन की वास्तविकताओं का बारीकी से निरिक्षण करना ही उपन्यास का अभिष्ट रहा है । 'परीक्षागुरू' से लेकर अब तक की अपनी यात्रा में हिन्दी उपन्यास ने विदेशी तथा देशी भाषाओं के उपन्यासों से अनेक प्रभाव ग्रहण किए तथा इस स्थिति को प्राप्त हुआ कि उसका अलग अस्तित्व पहचाना जा सके । आज हमारे पास अनेकों ऐसे श्रेष्ठ उपन्यास हैं जिन्हें हम गर्व से भारतीय हिन्दी उपन्यास कह सकते हैं ।

हिन्दी उपन्यास को इस स्थिति तक ले आने वाले उपन्यासकारों में एक नाम कृष्णा सोबती का भी है । इनके पूर्ववर्ती उपन्यासों को पढ़कर सहसा यह अन्दाज़ा नहीं लगाया जा सकता कि यही कृष्णा सोबती 'ज़िन्दगीनामा' भी लिख सकती हैं । भाषा और ढाँचा के नयेपन के साथ यह उपन्यास हिन्दी उपन्यास की संभावनाओं को विस्तृत करता है । प्रचलित ढाँचे का परित्याग करके नवीन प्रयोग के रूप में 'ज़िन्दगीनामा' अपनी पहचान बना पाने में सफ़ल हुआ है ।

वाद के विवाद में उलझकर अनेकों उपन्यास तथा उपन्यासकार आलोचकों द्वारा सरलीकरण का शिकार होते रहे हैं । उपन्यास किसी

भी 'यथार्थवाद' या 'रूपवाद' जैसे वाद से हटकर, उसका निरपेक्ष मूल्यांकन ही उपन्यास तथा उपन्यासकार की सर्जनात्मकता को न्याय प्रदान कर सकता है । कथ्य तथा ढाँचे के स्तर पर उपन्यास जैसी विधा को भारतीय बनाने के महत्वपूर्ण प्रयास किन्हीं हदों तक सफल साबित हुए हैं । 'ज़िन्दगीनामा' इसी परम्परा में महत्वपूर्ण कड़ी है ।

'ज़िन्दगीनामा' का कथ्य ही ऐसा है कि उसे पूरी ईमानदारी से सामने लाने के लिए उस काल के वातावरण को उभारना आवश्यक था, जिस काल के कथ्य को उसमें उठाया गया है । यह काम किया है 'ज़िन्दगीनामा' के भाषा तथा शिल्प ने । पंजाबी को तराश कर जिस शिल्प में प्रस्तुत किया गया है वह पाठक को अतीत के उस पंजाब में ले जाता है, जहाँ मजलिसें लगा करती थीं और किस्से सुनाये जाते थे । कथा में से कथा निकालने की पौराणिक शैली का प्रयोग जिस नवीनता से किया गया है वह अपने आप में सराहनीय है ।

'ज़िन्दगीनामा' के पंजाबी रंग, शब्दों की स्थानीयता के कारण पाठ में आने वाली दुरूहता पर अक्सर उंगली उठाई जाती रही है । इस विवाद पर शोध के तीसरे अध्याय में पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है, फिर यहाँ उल्लेखनीय है कि 'ज़िन्दगीनामा' के अनेक शब्द ऐसे हैं जिनका प्रयोग हिन्दी भाषी क्षेत्रों की अनेक बोलियों में होता रहा है, किन्तु अब उनका प्रयोग आम तौर पर नहीं होता । 'ज़िन्दगीनामा' के दो-एक ऐसे ही दुरूह कहे जाने वाले शब्दों पर विचार किया जा सकता है । एक शब्द है 'पैंडा' । पंजाबी में रास्ते के लिए 'पैंडा'

शब्द प्रयोग किया जाता है । हिमाचल प्रदेश में भी अनेक स्थानों पर रास्ते के लिए 'पैंडा' शब्द प्रचलित था और बिहार के भोजपुरी भाषी क्षेत्र में भी । यही बात 'पसारा' शब्द को लेकर भी कही जा सकती है तथा और भी शब्दों की छानबीन की जा सकती है । इस खोज का आशय पंजाबी के शब्दों को हर भाषा या बोली से जोड़ने से न होकर इस बात पर जोर देने से है कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों की भाषाओं या बोलियों में लिखे गए श्रेष्ठ उपन्यास केवल तब तक दुरूह हैं जब तक उन्हें जानने-पढ़ने की इच्छा पाठक में नहीं है, वरना साहित्य प्रेमी पाठक के लिए अधिक से अधिक दूसरे पाठ में 'ज़िन्दगीनामा' या 'मैला आँचल' पराए नहीं रह जाते ।

भाषा का जो ताकतवर प्रयोग 'ज़िन्दगीनामा' में हुआ है वह हिन्दी उपन्यास परम्परा को समृद्ध बनाने तथा आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण उपलब्धि माना जा सकता है । परिशिष्ट में कठिन पंजाबी शब्दों तथा लोक गीतों के अर्थ स्पष्ट करने से यदि एक ओर रास्ता थोड़ा आसान हो जाता है तो दूसरी ओर यह पद्धति पाठक की तारतम्यता को बाधित भी कर सकती है । इसलिए यहाँ बहस का विषय यह नहीं होना चाहिए कि परिशिष्ट में इन शब्दों के अर्थ देने चाहिए या नहीं । मुख्य बहस भाषा, शिल्प और औपन्यासिक ढाँचे के प्रयोग को लेकर है जिस पर शोध-प्रबंध आधारित है । कुल मिलाकर 'ज़िन्दगीनामा' भाषा और शिल्प की नवीनता के साथ भारतीय कथा परम्परा के भी अधिक निकट है । पश्चिम के वैचारिक तथा शैल्पिक दबाव से कोसों दूर — एक स्वच्छ, निर्मल पहचान ।

परिशिष्ट

सोबती से साक्षात्कार

'ज़िन्दगीनामा' को बारीकी से जाँचने-परखने के लिए उपलब्ध लिखित सामग्री के अतिरिक्त मैंने कृष्णा जी से अनेक मुलाकातों में बातचीत की । मेरे सवालों के जवाब उन्होंने एक लेख के रूप में लिखकर दिए, जिसे संलग्न किया जा रहा है । प्रश्न कुछ इस प्रकार थे -

1. 'आजकल' में 'ज़िन्दगीनामा' की समीक्षा करते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी उपन्यास के गाँव तक ही सिमटे रहने को उपन्यास की एक बड़ी कमजोरी मानते हैं । उनकी इस टिप्पणी पर आपकी क्या प्रतिक्रिया है ?

2. 'ज़िन्दगीनामा' भाषा तथा शिल्प के स्तर पर हिन्दी पाठक से अपना पाठकीय अभ्यास तोड़ने की मांग करता है । पंजाबी शब्दों तथा परिवेश से अपरिचित पाठक उपन्यास से अन्विति स्थापित कर भी ले तो भी कुछ पंजाबी प्रयोग ऐसे हैं, जिनके अर्थ कथा-प्रवाह में भी स्पष्ट नहीं हो पाते - जैसे - झौंटी, सद्दा, वैण, पँडा, डंगर, महात्तर, झुलखा आदि । क्या आपको नहीं लगता कि इससे उपन्यास की संप्रेषणीयता भंग होती है ?

3. यदि 'ज़िन्दगीनामा' को प्रचलित भाषा तथा ढाँचे में लिखा जाता तो क्या वह अधिक लोगों तक नहीं पहुंच पाता, अधिक संप्रेषणीय नहीं बन पाता ?

4. भाषा के साथ ही एक और जबरदस्त प्रयोग आपने किया है - औपन्यासिक ढाँचे को लेकर । 'ज़िन्दगीनामा' को अपने प्रचलित ढाँचे से हटकर लिखा है ।

इसके पीछे कथावस्तु का दबाव था या प्रयोग करने की दृष्टि मात्र, या फिर कोई और कारण ?

5. भाषा के प्रति जो प्रबल आग्रह 'ज़िन्दगीनामा' में है क्या वह एक तरह के भाषा के रूपवाद को जन्म नहीं देता ?

कृष्णा सोबती :

(1) 'ज़िन्दगीनामा' को आप आँचलिक उपन्यास कह सकते हैं और नहीं भी, पर वह आँचलिक उपन्यास नहीं है । इसलिए इसे आँचलिक कहे जाने पर मेरी कोई विशेष प्रतिक्रिया भी नहीं है । आलोचना के स्तर पर हर उपन्यास या रचना को किसी न किसी नए या पुराने ढाँचे में रखकर जाँचने का आग्रह जितना ज़रूरी है उतना ही ज़रूरी इसके मूल्याँकन के लिए लीक से हटकर उसकी जाँच-पड़ताल के लिए कुछ नए प्रतिमान रखना भी । उपन्यास के प्रारंभिक ढाँचे और शिल्प में काफी परिवर्तन हो चुके हैं -- उसकी पड़ताल पद्धति को भी बदलना ज़रूरी होगा । अप्रासंगिक न होगा यह दोहरा देना कि उपन्यास को आँचलिक पुरारने के आग्रह के बावजूद 'ज़िन्दगीनामा' पंजाब के किसी अँचल विशेष का वृतान्त नहीं । यह उस अविभाजित सीमा प्रदेश की प्रस्तुति है जिसकी भाषाई पहचान अपने पूरे खुरदुरेपन तथा अलिखित टेक्सचर में निहित थी, जज़्ब थी --

उन तमाम भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थितियों के अनुरूप जो सदियों से सीमा प्रदेश होने के कारण उत्पीड़न से कहीं ज़्यादा संघर्ष से जुड़ी थीं । ऐसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उस काल-खण्ड और उसकी चुनौतियों, तनावों को अरखने-परखने को — नाप खोज और तौल की विधि में 'ज़िन्दगीनामा' की परिकल्पना को देखना होगा ।

(2) देखें तो हिन्दी पाठक के लिए 'ज़िन्दगीनामा' का परिवेश अटपटा हो सकता है, नया नहीं । सम्प्रेषणीयता को केन्द्र में रखकर कुछ शब्दों के अर्थ आप शब्दकोश तथा भाषा के पारदर्शी अंदाज़ से न भी समझें तो भी वे पंक्ति के पारस्परिक योग में आप तक सूचना, तथ्य अथवा तर्क पहुंचाने से चूकते नहीं । शब्दों की बोधगम्यता शब्दों के झुण्ड में उभर कर आती है या वृतांत इतने अप्रत्यक्ष नहीं होते कि उसकी तादृश्यता पाठक तक न पहुँचे ।

(3) क्या सचमुच विचार, संवेदन और परिवेश के आवेगों की गूँथ से सरक कर पाठ के नेपथ्य में चली जाती है । सम्प्रेषणीयता क्या साक्षात्कार के परिभाषी मुखड़े से पहचानी जानी चाहिए । आशा और विचार के तेवर को लेखक शब्दों के सानिध्य से उस लीक की प्रस्तुति करने को प्रतिबद्ध है, जिसकी पुनर्रचना में दृश्य-श्रव्य की मुखामुखी विविधता को एक सूत्र में पिरोती है । देश- परिवेश का सांस्कृतिक मुखड़ा उसके संवाद में परिलक्षित व्यावहारिकता जिन शब्दों और स्वरों से उद्घाटित होती है उन्हें प्रयोग में लाने का निर्णय

करने का अधिकार लेखक को है । गाँव और किसान की जीवन-शैली भाषा की वाचिक परम्परा लीक को समझने-बूझने और व्यक्त करने के दबाव की दरअसल 'ज़िन्दगीनामा' जैसे उपन्यास की भाषा और मुहावरे को तय करते हैं । वाक् और वाचक का कथ्य भाषा के दोहरे दबाव के कारण कथ्य से बाहर रखना उसकी रचनात्मक प्रस्तुति संदिग्ध करना है । वाचिक शब्द की साधारणता खेतिहर समाज में इस्तेमाल होने पर असाधारणता ग्रहण करती है - विशेष हो उठती है । पांडित्य की साक्षमता के अनुरूप नहीं - जन को बहु-उद्धृत उक्तियों के रूप में । उसके स्वभावगत घनत्व और लचक को अनदेखा न करना लेखक का महत्वपूर्ण भाषायी औचित्य है । उपन्यास को वजूद में लाने के लिए, मात्र विषयवस्तु और काल-खण्ड को चित्रित करने के बजाए उसे उसकी मिट्टी में रोपने के लिए कथ्य और संवाद को गुंजाईश देना कहीं ज्यादा अनिवार्य है । 'ज़िन्दगीनामा' जैसे उपन्यास में ध्वनियों को, प्रचलित रूपों को अनदेखा करना मुमकिन नहीं था । इसके संवाद और वृतांत में लेखक आत्म परिभाषी - ता के रूप में कार्यशील नहीं हो सकता । खेतिहर संस्कृति और समाज आज भी अपने मौलिक रूप में मौजूद हैं । उसकी बोलचाल की भाषा उसकी धरती की गंध से जुड़ी है । भाषा का एक नहीं अनेक तेवर हैं । वह हर वर्ग, समूह और उसके पेशे के साथ बदलते हैं । अनुभव और ज्ञान का चाहने तक पसरा हुआ एक मौखिक संस्कार ही है । उसी सम्प्रेषणीयता की दुहाई देकर रचनात्मक भाषा को बाहर करना, उसकी सक्षमता और समृद्धि को, उसकी वाचिक विशिष्टता को नष्ट करना होगा । जो 'लीक' की स्मृति और संवाद के महत्व से उसने अर्जित की है ।

शहर और शहर वालों के लिए गाँव और गाँव वाला होने की अपनी सीमाएँ हैं । एक दूसरे को घूरता यह एक ऐसा पक्ष है कि लेखक को स्वयं अपने सांस्कृतिक बिन्दु और परिवेश की केन्द्रीयता का अतिक्रमण करना होताहै । 'ज़िन्दगीनामा' में यह एक-दूसरे से विलय हुआ है या नहीं इसकी पड़ताल करना आलोचक का ध्येय है । अपनी ओर से केवल इतना ही कि लेखक द्वारा इसे देखनेमेंवह शहर के प्रभावों से निश्चित रूप से मुक्त रहा है । देशीपन में देशबद्ध होकर और नागर संस्कार से देशमुक्त होकर ही 'ज़िन्दगीनामा' के मूर्त-अमूर्त को एक लय में ढाल दिया गया । इसलिए मुमकिन था कि लेखक के निकट न गाँव एक पीढ़ी का अनुभव और न शहर ही । दोनों ओर से तीन-तीन पीढ़ियाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में एक दूसरे से गूँथी पड़ी थीं । स्मृति, संस्कार और संवाद को पुकारने के लिए कुछ भी सायास नहीं करना था । इसके बावजूद जो दीखता था वह इधर था और जो सुनाई पड़ता था, वह उधर था ।

गाँव अपने में एक छोटी इकाई है मगर वह एक बड़ी दुनिया की भूमिका भी है । आमुख है । दरियाओं के किनारे बसा गाँव कोई एक गाँव नहीं — इसी से इसका कोई नाम नहीं । एक गाँव के बहाने अविभाजित पंजाब के वे सभी गाँव सामने आते हैं जो अब हमारी दीठ और अनुभव से परे छूट गए हैं। इसीलिए वहाँ की बोली-छन्द, बोलियाँ, ठप्पे और कवित्त को आँकने का आग्रह करती है ।

वह भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थानीयता जो भंग हो चुकी है - खंडित हो चुकी है - जो बड़े परिवार का अंग थी जो अपने आप में एक जीवंत

परिवेश थी, उसे अंकित करने की सीमाएँ जरूर लेखक की अपनी रही होंगी । इतना तो कहा ही जा सकता है कि 'ज़िन्दगीनामा' का गाँव एक बड़ी दुनिया का अंग है । ग्रामीण परिवारों के लड़के खेती करते हैं - पुलिस में उनकी भर्ती होती है, कमाई के लिए वे अवादान जाते हैं । बग़दाद में रेल पड़ने पर वहाँ मजूरी के लिए जाते हैं । कैनेडा, अफ़्रीका, बर्मा, हांगकांग — कच्चे घरों की संतानें बाहर फैलती हैं । बड़ी दुनिया से साक्षात्कार करती हैं । मौखिक परम्परा में वे जिस हिन्दुस्तान की बात करती हैं वह मात्र पेशावर और लाहौर का क्षेत्र नहीं - वह कलकत्ता, पटनासाहिब, बंबई और रंगून को भी पहचानती हैं ।

क्या हम सचमुच ऐसे समय की कल्पना कर सकते हैं जब गाँव में सिवाय खाट, चारपाई या मंजी के सिवाय कोई दूसरा फर्नीचर नहीं होता था । मनोरंजन का शुगल भी इतना ही कि गाना, स्वाँग और हर दिन वही गप्पें । वही प्रसंग, वही आख्यान । 'ज़िन्दगीनामा' इस सदी की सुबह से आरंभ होता है हम इसे इसके प्रामाणिक परिप्रेक्ष्य में जाँचने की कोशिश करेंगे तो इसे लेकर कथ्य सम्प्रेषणीयता और परिवेश की बहुत सी धारणाएं साफ होंगी ।

'ज़िन्दगीनामा' के प्रस्तुत टुकड़े उद्धृत हैं । इनका पाठ सम्प्रेषणीयता की बहुत सी शंकाओं का समाधान करेगा ।

याद रखो, सूरज सारी दुनिया, लोक-परलोक, ऊपर-थल्ली में, धरती आकाश में सबसे बड़ा है । वह सच्ची-मुच्ची का महाराज है । ब्रह्माण्ड

का सरताज है ।" (जिन्दगीनामा, पृ. 21)

"सूरज ने अपनी धी सूरजा ब्याही आकाश को तो सूरज महाराज ने इतनी बड़ी उजियारी चादर धी-जमाई को दी कि वह सारे मंडल में बिछती चली गई ।" (जिन्दगीनामा, पृ. 33)

"क्यों जी गुलाम रसूल मेरी बहन हाकमा कहाँ ।"

हाकमा बीबी ठसियोड़ी चाल बहार निकली तो गब्बू कोठरी का जात दुपट्टी में से चोर अँखियों झाँके ।" (जिन्दगीनामा, तृतीय संस्करण, पृ. 42)

- x - x -

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

ज़िन्दगीनामा, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. दिल्ली

सहायक ग्रन्थ

1. अधूरे साक्षात्कार, नेमिचन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1989
2. औरों के बहाने, राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1981
3. उपन्यास - स्थिति और गति, चन्द्रकान्त बांदिवडेकर, पूर्वोदयाप्रकाशन
4. कुछ पूर्वग्रह, अशोक वाजपेयी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली. 1984
5. जनान्तिक, नेमिचन्द्र जैन, संभावना प्रकाशन, हापुड 1981
6. तीसरा ताक्ष्य, अशोक वाजपेयी (सं.), संभावना प्रकाशन, हापुड
7. परम्परा और इतिहास बोध, प्रो. श्यामाचरण दूबे, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
8. परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पूर्णचन्द जोशी, राजकमल प्रकाशन दिल्ली
9. प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास, कमलल, हरियाणा स. आ. प्र., चण्डीगढ
10. भारत में उपनिवेशवाद, डा. सत्या राय (सं.), हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
11. विचार और वितर्क, हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन प्रकाशन, दिल्ली

12. स्मृति छन्दा, अज्ञेय (सं०), नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

13. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डा. मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा सा. अ. प्रकाशन, चण्डीगढ़

14. सोबती एक सोहबत, कृष्णा सोबती, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

15. हिन्दी उपन्यास 1950 के बाद, निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी (सं.), नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

16. हिन्दी उपन्यास के सौ वर्ष, रामदरश मिश्र (सं.), गिरनार प्रकाशन, गुजरात

17. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद

सहायक पत्रिकाएं

1. आजकल, जनवरी 1980

2. आलोचना, अप्रैल-जून 1980, अंक-84

3. पूर्वग्रह, अंक-38, 76-77, 46-47, 61-62, 5, 21, 81-82

4. साखी, अंक-1 और दो

5. सारिका, अंक-234

6. ज्ञानोदय, जनवरी-62, फरवरी - 62

English

1. Realism and reality, Minakshi Mukherji, Oxford Press, Delhi (Book).

2. Indian Literature, Sahitya Academy, June-July 91, (Magazine).